शैक्षिक
संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-32, जून-जुलाई 2000

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद - 461 001
फोन: 07574 - 53518
email: eklavyahoshangabad@bigfoot.com

वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 50 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: जंतु-जगत में बहुत-सी प्रजातियों में नर और मादा अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। इसे लैंगिक द्विरूपता कहा जाता है। इस फोटो में अपने आसपास पाए जाने वाले तोतों का एक जोड़ा उनके लक्षणों से स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। नर तोते के गले में कंठी -सी बनी दिखती है जबकि मादा के गले में ऐसी कोई रचना नहीं होती। इस संबंध में लेख 35 पर।

पिछला पृष्ठ: सी. वी. रामन ने अपना अधिकतर शोधकार्य प्राकृतिक घटनाओं और पदार्थों की जांच-पड़ताल से संबंधित विषयों में किया। उन्होंने समुद्र के नीले रंग पर तो महत्वपूर्ण शोधकार्य किया ही, तितलियों और फूलों के रंगों और विविध प्राकृतिक रवों पर खुद काम किया व औरों को भी कार्य करने के लिए प्रेरित किया। सी. वी. रामन की विस्तृत जीवनी पृष्ठ 49 पर।

इस अंक में निम्न किताबों से चित्र लिए गए हैं: ***इनसेक्ट:*** *प्रकाशक: चाटो एंड विंडस, लंदन।* ***मनोरंजक भौतिकी:*** *पेरेलमेन, प्रकाशक: मीर प्रकाशन, मॉस्को।* ***एडवांस्ड बायोलाजी:*** *सी. जे. क्लेग, डी. जी. मेक'कीन; प्रकाशक: जॉन मुरे पब्लिशर्स, लंदन।* ***वरटेब्रेट लाइफ:*** *एफ. हार्वे, जॉन बी. हेसर, विलियिम एन. मेक फारलैंड; प्रकाशक: प्रेंटिस हॉल, न्यूजर्सी।* ***मेन्स विव्यू ऑफ द यूनिवर्स, ए पिक्टोरियल हिस्ट्री:*** *गारलैंड ई. टेयूबर; प्रकाशक: क्राउन पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क।* ***एक्सप्लोरिंग द यूनिवर्स:*** *डब्लू. एम. प्रोथेरो, ई. आर. केप्रिआटी, जी. एच. न्यूसोम; प्रकाशक: चार्ल्स ई. मेरिल पब्लिकेशन कम्पनी, ओहायो।* ***आज भी खरे हैं तालाब:*** *अनुपम मिश्र; प्रकाशक: गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।*

संदर्भ सजिल्द सं

हर जिल्द में हैं:

भौतिकी, रसायन, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र,
प्राणी व्यवहार, सूक्ष्मजैविकी, गणित, इतिहास,
भूगोल-भूविज्ञान, वैज्ञानिकों की जीवनियां,
पढ़ाने के तरीके, बच्चों के साथ अनुभव,
प्रयोग-मॉडल एवं गतिविधियां,
सर्वे रिपोर्ट, कहानियां, पहेलियां
और
सवालीराम के सवाल-जवाब

संदर्भ अंक 1-6, 7-12, 13-18, 19-25 और 26-30 के सजिल्द संस्करण उपलब्ध हैं। इनके साथ है प्रकाशित अंकों का विषयवार इंडेक्स।

प्रत्येक का डाक-खर्च सहित मूल्य 65 रु.।

**राशि डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें।
ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं।
अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें।**

एकलव्य
कोठी बाज़ार
होशंगाबाद, म. प्र, 461001
ई - मेल: eklavyahoshangabad@bigfoot.com

एकलव्य
ई - 1/25, अरेरा कॉलोनी
भोपाल - 462 016
ई - मेल: eklavyamp@vsnl.com
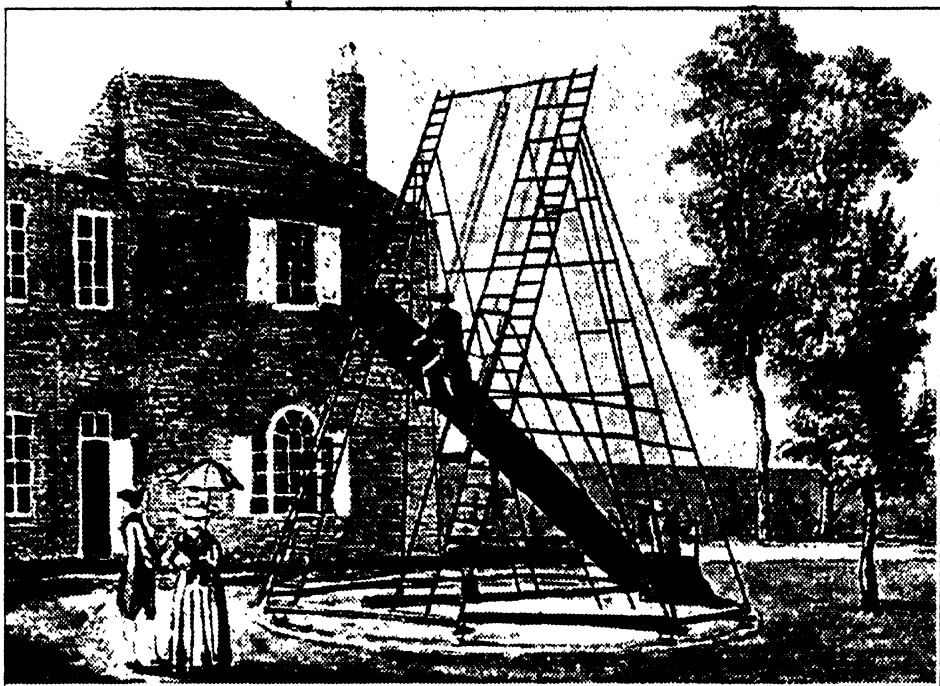
नेपच्यून की खोज 17

बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति और शनि के बारे में तो सदियों से जानकारी थी इंसान को। फिर खोज निकाला यूरेनस .....। लेकिन यूरेनस के अवलोकनों से बार-बार यही लगता रहा कि यह ग्रह अपने रास्ते से भटक जाता है। यूरेनस की इस भटकन ने एक और ग्रह की खोज के दरवाज़े खोल दिए। नेपच्यून को पहले कागज़ी गणनाओं में खोजा गया फिर आसमान में तलाश की गई। बस विवाद इस बात पर था कि खोज का श्रेय किसे दिया जाए?

लैंगिक द्विरूपता 35

कांव-कांव करते कौओं में कौन नर है और कौन मादा है यह पहचान पाना खासा कठिन है। लेकिन शेर और शेरनी को पहचानना आसान क्योंकि यहां नर और मादा को बाहर से देखकर ही फर्क किया जा सकता है। क्यों होती है कुछ जीवों में यह लैंगिक द्विरूपता?
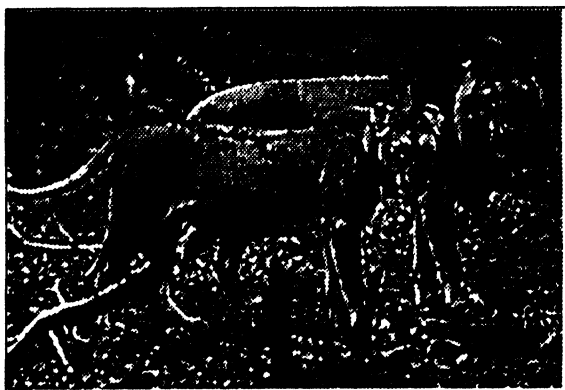
चंद्रशेखर वेंकट रामन . . . 49

20 वीं सदी के शुरुआती दशकों में भारत में स्वतंत्रता आंदोलन ज़ोरों पर था; उन दिनों किसी भारतीय के काम को यूरोपीय देश अहमियत दें तो वह व्यक्ति और उसका काम भारत के लिए गौरव बन जाता था। ऐसे ही दौर में रामन ने 'रामन-प्रभाव' की खोज कर नोबल पुरस्कार पाया था। रामन के वैज्ञानिक जीवन के विविध पहलुओं को उजागर करता है यह लेख।

भाषा, अनुभव और 63

शायद यह एक वहम है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण निर्माण सिर्फ शोध संस्थान ही करते हैं। राजस्थान में पिछले हज़ार साल का जल प्रबंध का इतिहास गवाह है कि उस समय भी लगभग हर गांव में पानी की सुविधा उपलब्ध थी और आज भी है। और यह सारा काम किसी सरकार ने नहीं, समाज ने अपने बलबूते पर किया था।

शैक्षिक संदर्भ

अंक 32, जून-जुलाई 2000

इस अंक में

आपने लिखा 4

शौकिया वैज्ञानिक 5
रिचर्ड पी. फाइनमेन

नेपच्यून की खोज 17
कमल लोडाया, वेंकटेश्वरन

स्कूली किताबों की भाषा . . 30
उमेश चंद्र चौहान

लैंगिक द्विरूपता 35
अरविंद गुप्ते

चंद्रशेखर वेंकट रामन 49

भाषा, अनुभव और 63
अनुपम मिश्र

ज़रा सिर तो खुजलाइए . . . 74

नाप जोखकर वेदियां 75
रामकृष्ण भट्टाचार्य

सोने के दांत वाला सांप . . 87
जे. बी. एस. हाल्डेन

आपने लिखा

अंक 31 माह अप्रैल-मई 2000 मिला साधुवाद। प्रसन्नता है कि संदर्भ अब समय पर निकलने लगी है। संपादन की सीमाएं, व्यथाएं तो होती ही हैं, फिर भी आपने जिस लगन, परिश्रम, कर्मठता से पत्रिका को समय पर उपलब्ध करवाने का संकल्प पूरा किया। मुझे विश्वास है कि जून-जुलाई का तो नहीं लेकिन अगस्त-सितंबर का अंक अगस्त के पहले सप्ताह में मिल जाएगा।

शिवचरण मंत्री
किशनगढ़, अजमेर, राजस्थान

संदर्भ का 30 वां अंक व मेरे लिए पहला अंक प्राप्त हुआ। पत्रिका को खोलते ही इसकी श्रेष्ठता का अंदाज़ा मुझे हो गया। इसके लिए मैं IUCAA, पुणे के अरविंद परांजपे का बहुत ही आभारी हूं जिन्होंने मुझे 'संदर्भ' की सदस्यता लेने का सुझाव दिया।

वास्तव में एक विद्यार्थी को पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त जिस तरह की ज्ञानवर्धक किताबों की ज़रूरत होती है, संदर्भ इस कसौटी पर खरी उतरती है। सभी लेख बेहद रोचक थे। विशेष रूप से प्राचीन भारत में रेखागणित, स्त्री शिक्षा और चुंबक पर लेख मुझे पसंद आए, साथ ही नदी अपहरण तथा पौधों में भोजन जैसे लेख काफी ज्ञानवर्धक थे।

मुझे यह जानकर भी बेहद खुशी हुई कि संदर्भ के प्रकाशन में मानव संसाधन विकास मंत्रालय व भारत पेट्रोलियम का भी सहयोग है। मेरे विचार से यदि देश के औद्योगिक क्षेत्र इसी तरह शिक्षा के क्षेत्र में सहयोग देते रहे तो देश में शैक्षिक क्रांति लाई जा सकती है।

जैसा कि आपने बताया कि अब संदर्भ को बुक स्टाल पर उपलब्ध करवाने की योजना है तो इस दिशा में मैं अपनी ओर से पूरा सहयोग देने की कोशिश करूंगा।

आसिफ अली खान
रेलवे कॉलोनी, फतेहपुर, उ. प्र.

आपका खत मिला लेकिन बारहवीं की परीक्षा के कारण जवाब देने में विलंब हुआ।

विज्ञान इतना सहज हो सकता है यह बात संदर्भ पढ़कर ही समझ में आती है। आज तक स्कूल-कॉलेज में जो विज्ञान पढ़ी वह बहुत ही कठिन व क्लिष्ट रूप में थी लेकिन संदर्भ पढ़ने के बाद पता चला कि ज्ञान-विज्ञान इतना मनोरंजक भी और रसपूर्ण भी होता है।

मनस्विनी
मुंबई

चित्र: वी. एम. भौंडे

शौकिया वैज्ञानिक

रिचर्ड पी. फाइनमेन

जब मैं एक बच्चा था तो मेरी अपनी एक 'प्रयोगशाला' थी। प्रयोगशाला मतलब ऐसा कुछ नहीं कि मैं कोई नाप-जोख करूं या बहुत महत्वपूर्ण प्रयोग करूं। बल्कि, मैं तो खेलता था; कभी मोटर बना लेता, कभी एक ऐसा उपकरण बनाता जिसमें जब फोटोसेल के सामने से कुछ भी गुज़रे को वह बजने लगे, सेलेनियम से खेलता था; कुल मिलाकर, मैं पूरे समय कुछ-न-कुछ उठा-पटक करता रहता था। मैंने वोल्टेज को नियंत्रित करने के लिए अवरोधकों की तरह बल्ब और स्विच की सीरिज़ का इस्तेमाल किया था। इसके लिए मैंने थोड़ी-सी गणनाएं भी की थीं। पर वह भी सिर्फ व्यवहारिक काम सुलटाने के लिए। मैंने उससे कभी भी असली

प्रयोगशाला जैसा कोई प्रयोग नहीं किया।

मेरे पास एक सूक्ष्मदर्शी भी था और उसमें से चीज़ों को निहारने में मुझे बहुत मज़ा आता था। इसमें धैर्य लगता था; सूक्ष्मदर्शी के लेंस के नीचे कुछ रखकर मैं उसे अनन्त काल तक देखता ही रहता था। मैंने कई रोचक चीज़ें देखीं; जैसा सब देखते हैं – एक डायटम का स्लाइड के एक छोर से दूसरे छोर तक जाना, और ऐसा ही बहुत कुछ।

पैरामीशियम मेरी प्रयोगशाला में

एक दिन मैं एक पैरामीशियम को देख रहा था और मुझे कुछ ऐसा दिखा जिसके बारे में मेरे स्कूल की किताबों में कोई ज़िक्र नहीं था – बल्कि, कॉलेज की किताबों में भी नहीं। ये किताबें हमेशा हर चीज़ को इतना साधारण बना देती हैं कि दुनिया बिल्कुल वैसी हो जाए जैसी वे चाहते हैं। जब वे जीवों के व्यवहार के बारे में बात करते हैं, तो हमेशा इस तरह से शुरू हो जाते हैं – "पैरामीशियम एक अत्यन्त साधारण जीव है; उसका व्यवहार बिल्कुल सरल होता है। उसका चप्पल के आकार का शरीर जब पानी में चलता है तो वह मुड़ जाता है, पर जैसे ही वह किसी चीज़ से टकराता है तो एकदम पीछे हटकर वह थोड़ा-सा घूम जाता है, और फिर नए सिरे से चल पड़ता है।"

यह असल में ठीक नहीं है। पहली बात, जैसा कि सब जानते हैं, पैरामीशियम समय-समय पर, एक-दूसरे से मेल करते हैं – वे मिलते हैं और अपने केन्द्रक आपस में बदलते हैं। उन्हें कैसे पता चलता है कि कब ऐसा करने का समय आ गया? (खैर छोड़ो, यह मेरा अवलोकन नहीं है।)

मैंने पैरामीशियम को पानी में किसी चीज़ से टकराते, पीछे हटते और फिर घूमकर दूसरी दिशा में चल पड़ते देखा। यह बिल्कुल भी ऐसा नहीं लगता जैसे कि सब कुछ यंत्र-चलित हो, किसी कम्प्यूटर प्रोग्राम की तरह। वे अलग-अलग दूरी तक जाते हैं, पीछे हटते हुए अलग-अलग दूरी तय करते हैं, हर बार अलग-अलग कोण से घूमते हैं। वे हमेशा दाएं भी नहीं मुड़ते, बहुत ही अनियमित होते हैं। सब कुछ बहुत अटकल पच्चू यानी रैण्डम दिखता है, क्योंकि आपको पता नहीं कि वे किस चीज़ से टकरा गए; उन्हें किस रसायन की गंध आ गई या क्या हुआ।

एक चीज़ जो मैं देखना चाहता था कि जिस पानी में पैरामीशियम रहता है, वह जब सूख जाए तब क्या होता है। किताबों में यह दावा किया

गया था कि पैरामीशियम सूखकर एक कड़क बीज की तरह बन सकता है। मेरे सूक्ष्मदर्शी की स्लाइड पर एक बूंद पानी था और उस पानी की बूंद में एक पैरामीशियम और कुछ 'घास' थी।

माइक्रोस्कोप से देखने पर स्लीपर जैसे आकार वाला पैरामीशियम

धीरे-धीरे 15-20 मिनटों में जैसे-जैसे पानी सूखने लगा, वह पैरामीशियम मुश्किल से और मुश्किल स्थिति में फंसता गया। उसकी आगे-पीछे, इधर-उधर की भाग-दौड़ बढ़ती चली गई, जब तक कि वह और हिल ही नहीं सकता था। वह घास की इन 'तिनकों' में बिल्कुल जकड़ा जा चुका था।

फिर मैंने एक ऐसी बात देखी जो मैंने पहले न देखी, न सुनी थी: पैरामीशियम ने अपना आकार खो दिया। वह इच्छानुसार अपना आकार बदल पा रहा था, एक अमीबा की तरह। उसने एक तिनके के सहारे अपने आप को धकेलना शुरू किया, और अपने शरीर को दो हिस्सों में बांटने लगा। लगभग आधी दूरी तक शरीर को इस तरह दो भागों में बांटने के बाद उसने तय किया कि यह कोई बहुत अच्छा 'आइडिया' नहीं था और वापस सामान्य स्थिति में आ गया।

तो इन जीवों के बारे में मेरी यह धारणा बनी कि किताबों में इनके व्यवहार का वर्णन अति सरल बनाकर लिखा जाता है। असल में इनका व्यवहार उतना यंत्रवत या एक-आयामी नहीं होता जैसा वे बताते हैं। उन्हें इन सरल जीवों के व्यवहार के बारे में सही-सही बताना चाहिए। जब तक हम यह नहीं समझें कि एक-कोशीय जीवों के व्यवहार के कितने आयाम होते हैं, हम और जटिल जीवों के व्यवहार को पूरी तरह से कैसे समझ पाएंगे?

डार्निंग नीडल

मुझे कीड़े-मकोड़ों के निरीक्षण में भी बहुत मज़ा आता था। जब मैं करीब तेरह साल का था, मेरे पास एक कीटों की किताब हुआ करती थी। उसमें लिखा था कि कीट नुकसानदायक नहीं होते; वे डंक नहीं मारते हैं। हमारे मोहल्ले में यह बात मशहूर थी कि डार्निंग नीडल (हम इन कीटों को इसी नाम से जानते थे) का डंक बहुत खतरनाक होता है। तो जब हम कभी बाहर, खुले में बेस बॉल या ऐसा ही कुछ खेल रहे होते और ऐसा कोई कीट आसपास मंडराने लगता, तो सब लोग हाथ-पैर लहराते हुए उससे बचने के लिए 'डार्निंग नीडल, डार्निंग नीडल' चिल्लाते हुए भागते थे। ।

एक दिन मैं समुन्दर किनारे बैठा था। मैंने उन्हीं दिनों वह किताब पढ़ी थी जिसमें लिखा था कि ड्रेगनफ्लाई डंक नहीं मारते। तभी वहां एक डार्निंग नीडल मंडराने लगा और सब लोग चीख-पुकार मचाकर भागने लगे। पर मैं वहीं बैठा रहा। मैंने कहा, "फिक्र मत करो, डार्निंग नीडल डंक नहीं मारते।"

वह कीड़ा मेरे पैर पर बैठा। हर कोई चीख रहा था और बहुत नाटक हो रहा था क्योंकि यह कीड़ा मेरे पैर पर बैठा था और मैं था विज्ञान का

डार्निंग नीडल या ड्रेगनफ्लाई

दीवाना कि कहे जा रहा था कि वह मुझे नहीं काटेगा।

शायद अब तक आपको पूरा भरोसा हो चुका होगा कि इस कहानी के अन्त में उस कीड़े ने मुझे काट लिया था – पर उसने नहीं काटा। किताब ने सही कहा था। यह अलग बात है कि इस दौरान मुझे पसीना छूट गया था।
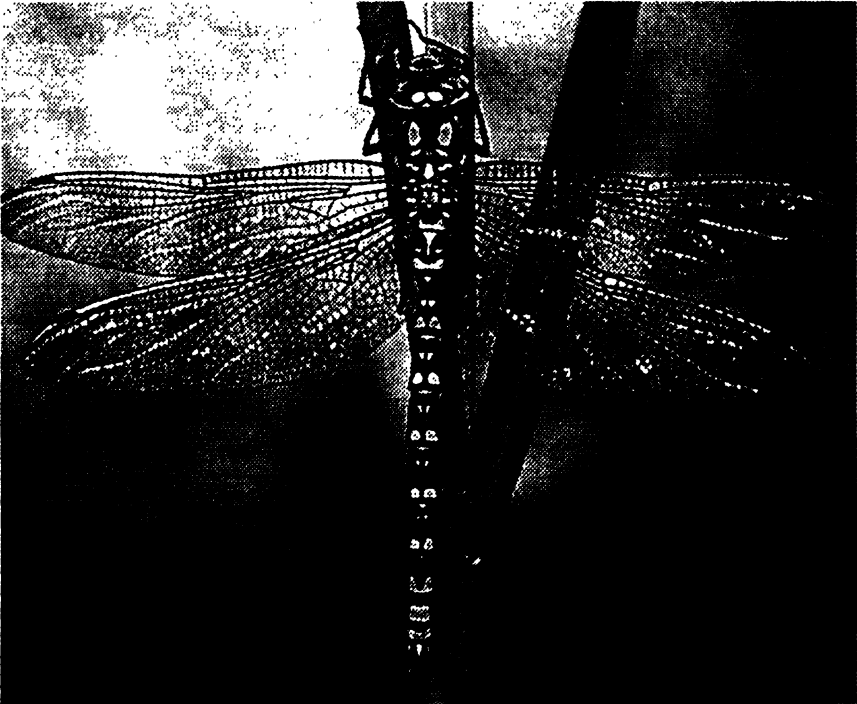
मेरे पास एक छोटा पॉकेट सूक्ष्मदर्शी भी हुआ करता था। वह असल में एक खिलौना सूक्ष्मदर्शी था जिसका लैंस वाला हिस्सा निकालकर मैं बिल्लौरी कांच की तरह हाथ में पकड़ लेता था। वैसे यह सूक्ष्मदर्शी 40 से 50 गुना तक बड़ा करके दिखाता था। अगर थोड़ा ध्यान से काम करें तो उसे अच्छी तरह से फोकस भी किया जा सकता था। तो इस तरह से मेरे हाथ एक ऐसा सूक्ष्मदर्शी आ गया था जिसे लेकर मैं कहीं भी घूम सकता था, सड़क पर भी और चीज़ों को गौर से निहार सकता था।

चींटियां और एफिड

जब मैं प्रिंसटन में कॉलेज की शुरुआती पढ़ाई कर रहा था, एक दिन एक बेल के इर्द-गिर्द रेंग रही कुछ चींटियों को देखने के लिए मैंने वह सूक्ष्मदर्शी निकाला। चींटियों का नज़ारा

एफिड

एफिड और चींटी

थपथपाना

और बूंद पाना
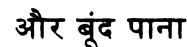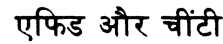
मधुरस की एक बूंद को पाने के लिए चींटी को यह सब करना पड़ता है।

देखकर मैं इतना उत्तेजित हो गया कि मैं चिल्ला उठा। मैंने चींटी के साथ एक एफिड देखा था – एफिड जिसकी चींटियां देखभाल करती हैं। जिस पौधे पर वे रहते हैं, अगर वह मरने लगे तो चीटियां एफिड को दूसरे पौधे तक उठाकर ले जाती हैं। बदले में चींटियों को आधा पचाया हुआ एफिड का रस मिलता है जिसे 'मधुरस' कहते हैं। यह सब मैं जानता था; मेरे पिताजी ने मुझे यह सब बताया था लेकिन मैंने यह सब कभी देखा नहीं था।

तो यहां एक जनाब एफिड थे और कुछ देर में एक चींटी भी वहां आ धमकी। उस चींटी ने अपने पैरों से एफिड को थपथपाया – चारों ओर से – थप, थप, थप, थप। यह तो बहुत ही मज़ेदार था। फिर एफिड के पीछे से रस निकल आया और चूंकि सूक्ष्मदर्शी में से सब कुछ बड़ा-बड़ा दिख रहा था तो वह रस की बूंद काफी बड़ी, खूबसूरत चमकती हुई गेंद की तरह – बल्कि उस तरल रस के पृष्ठ तनाव के कारण एक गुब्बारे की तरह दिख रही थी। सूक्ष्मदर्शी बहुत अच्छा नहीं था इसलिए उसमें से रोशनी गुज़रने पर कुछ रंगों में बंट जाती थी। इससे वह बूंद हल्की-सी रंगीन दिखाई दे रही थी। बहुत ही ज़बरदस्त नज़ारा था।

चींटी ने उस रस की बूंद को अपने अगले दो पैरों से थामा, एफिड पर से उठाया और पकड़ लिया। उस सूक्ष्म स्तर पर दुनिया इतनी अलग होती है कि आप पानी को भी उठाकर पकड़ सकते हैं। शायद चींटियों की टांगों पर कुछ तैलीय पदार्थ होता होगा जिससे उनके पानी या तरल की बूंद को छूने या पकड़ने पर भी पृष्ठ-तनाव से बनी उनकी बाहरी झिल्ली टूटती नहीं है। फिर उस चींटी ने अपने मुंह से बूंद की बाहरी सतह की झिल्ली को तोड़ा और पृष्ठ-तनाव के कारण वह बूंद टूटकर सीधे ही उसके मुंह से होते हुए पेट में घुस गई। इस पूरी घटना को देखना बहुत ही मज़ेदार था।

कौन देस है जाना

प्रिंसटन में मेरे कमरे में एक खिड़की थी जिसके आगे एक यू-आकार का ताक बना हुआ था। एक दिन कुछ चींटियां उस पर निकल आईं और इधर-उधर मंडराने लगीं। मेरे मन में जिज्ञासा उठी कि इन्हें चीज़ों के बारे में पता कैसे चलता है? कैसे पता चलता है कि कहां जाना है?

क्या ये एक-दूसरे को बता सकती हैं कि खाना कहां है? जैसे मधुमक्खियां बताने में सक्षम होती हैं। क्या इन्हें ज्यामिति का कोई आभास है?

यह सब बहुत ही बचकाना है, आज सबको इन सवालों के जवाब पता हैं। पर उस समय मुझे जवाब मालूम नहीं थे इसलिए सबसे पहले मैंने खिड़की के आर-पार एक धागा बांधा और उससे एक और लम्बे धागे के ज़रिए एक गत्ते को बीच से मोड़कर टांग दिया। गत्ते पर मैंने थोड़ी शक्कर बिखेर दी। इस सब का उद्देश्य यह था कि शक्कर ऐसी जगह पर हो जो चींटियों से अलग-थलग हो। चींटियां इत्तफाक से शक्कर तक न पहुंच पाएं। मैं चाहता था कि इस प्रयोग में सब कुछ नियंत्रण में हो।

इसके बाद मैंने कागज़ के छोटे-छोटे टुकड़े किए और सब को बीच से मोड़ दिया। इन से मैं चींटियों को उठाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकता था। मैंने ये कागज़ के टुकड़े दो जगहों पर रखे – कुछ को मैंने खिड़की से लटक रहे शक्कर वाले गत्ते के पास रखा। और बाकी चींटियों के पास एक खास जगह पर। फिर सारी दोपहर मैं एक किताब पढ़ते हुए और चींटियों पर ध्यान रखते हुए बैठा रहा। जब तक कि एक चींटी मेरे द्वारा रखी कागज़ की 'गाड़ी' पर न चढ़ गई। फिर मैं उसे शक्कर तक ले गया। इस तरह जब कुछ चींटियां शक्कर तक पहुंच गई तो उनमें से एक गलती से वहां रखी कागज़ की गाड़ी पर चढ़ गई। तब उसे मैं वापस पहले वाली जगह तक ले आया।

मैं यह देखना चाहता था कि बची हुई चींटियों को यह संदेश पाने में कितनी देर लगती है कि 'गाड़ी' वाली जगह पर जाना चाहिए। पहले तो यह धीरे-धीरे शुरू हुआ, पर फिर जल्दी ही चींटियों की रफ्तार बढ़ती गई। अन्त में तो मैं चींटियों को इधर से उधर और उधर से इधर पहुंचाते-पहुंचाते पगलाने लगा था। पर ऐसे में, जब सब कुछ बढ़िया चल रहा था, मैं चींटियों को शक्कर से उठाकर एक तीसरी नई जगह पहुंचाने लगा। अब सवाल यह था कि क्या चींटियां सिर्फ वहीं तक जाना सीखती हैं जहां से वे हाल ही लौटीं? या वे वहां भी जा सकती हैं जहां वे इससे पहले गई थीं?

कुछ देर बाद सबसे पहली 'गाड़ी' वाली जगह पर लगभग कोई भी चींटी नहीं जा रही थी। जबकि दूसरी जगह पर चींटियों की भीड़ लगी हुई थी – शक्कर ढूंढते हुए घूम रही थीं सब। तो मुझे इतना तो पता चल गया कि चींटियां बस वहीं तक जा पाती हैं जहां से वे हाल में ही आई हों।

एक और प्रयोग में मैंने खिड़की पर कुछ शक्कर बिखेरकर उसके आसपास सूक्ष्मदर्शी की कुछ स्लाइड फैला दी थीं। इससे शक्कर तक पहुंचने के लिए चींटियों को इन स्लाइडों पर

से चलकर जाना होता था। फिर, एक पुरानी स्लाइड की जगह नई स्लाइड लगाकर, या स्लाइडों की जगह आपस में बदलकर, मैं यह साबित कर सकता था कि चींटियों में ज्यामिति की कोई धारणा नहीं होती है। वे यह पता नहीं लगा पाती हैं कि कोई चीज़ कहां स्थित है। अगर वे एक रास्ते से शक्कर तक जाती हैं और वापस किसी छोटे रास्ते से आती हैं तो उन्हें पता भी नहीं चलता कि वापसी का रास्ता छोटा था।

सूक्ष्मदर्शी की कांच की स्लाइडों की अदला-बदली करके यह भी स्पष्ट हो गया था कि चींटियां जहां से चलकर जाती हैं वहां एक किस्म का चिह्न या गंध या निशान भी छोड़ती जाती हैं। फिर मैंने कुछ आसान से प्रयोग यह पता लगाने के लिए किए कि चींटियों के इन मार्ग-चिह्न दिशा के हिसाब से नहीं होते। अगर मैं एक सीधे चली जा रही चींटी को कागज़ पर उठाकर गोल-गोल घुमाकर उसके रास्ते पर उलटा छोड़ देता तो उसे पता भी नहीं चलता था कि वह उलटी तरफ चल पड़ी है। जब तक वह किसी दूसरी चींटी से नहीं मिलती, वह उलटी तरफ ही चलती चली जाती थी। (बाद में, ब्राज़ील में रहते हुए मैंने कुछ पत्ते काटने वाली चींटियां देखीं और उन पर भी यही प्रयोग किए। इन चींटियों को कुछ कदम चलने पर ही यह पता चल जाता था कि वे भोजन की तरफ बढ़ रही हैं या उससे दूर। शायद इनके मार्ग-चिन्हों में कोई गंध का क्रम होता होगा। जैसे भोजन की तरफ जाने में क ख –, क ख –, ...या वापसी में क – ख –, क – ख –, ... या ऐसा ही कुछ और।)

एक बार मैंने कोशिश की कि चींटियों को एक गोलाकार में चलाऊं, पर इसके लिए ज़रूरी ताम-झाम को व्यवस्थित करने का मुझे धैर्य नहीं रहा। मेरी अधीरता के अलावा यह न कर पाने का मुझे कोई कारण नहीं मिला।

चींटियों के साथ प्रयोग करने में एक दिक्कत यह आती थी कि उन पर अगर आप सांस छोड़ते रहें तो वे इधर-उधर भागने लगती हैं। ये शायद ऐसे किसी जानवर के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया होगी जो उन्हें खाता हो या डिस्टर्ब करता हो। मुझे यह तो नहीं पता चला कि मेरी सांसों की गर्माहट, नमी या गंध – किससे उन्हें तकलीफ होती थी। पर प्रयोग करते हुए चींटियों को कागज़ की गाड़ी पर उठाकर एक जगह से दूसरी जगह लाते, ले जाते हुए मुझे हमेशा दम साधकर, सिर एक तरफ घुमाकर काम करना पड़ता था, ताकि प्रयोग ठीक तरह से हो पाए।

एक सवाल मेरे मन में अक्सर कुलबुलाता था। मैं सोचता था कि चींटियों के चलने की लाइनें इतनी

सीधी और सुन्दर-सी व्यवस्थित क्यों दिखती हैं? उनकी चाल से ऐसा क्यों लगता है जैसे उन्हें पता हो कि वे क्या कर रही हैं, कहां जा रही हैं; जैसे कि उनमें ज्यामिति की बड़ी अच्छी समझ हो। जबकि उनकी ज्यामिति की समझ को परखने के लिए जितने भी प्रयोग मैंने किए, उनमें से किसी ने भी काम नहीं किया। कई साल बाद, मैं जब 'कैलटेक' में रहता था, एक दिन मेरे गुसलखाने के पास कुछ चींटियां घूमती दिखाई दीं। मैंने सोचा, "यह बड़ा अच्छा मौका है।" मैंने उस जगह से कुछ दूर थोड़ी शक्कर बिखेर दी। फिर मैं सारी दोपहर इस बात का इंतज़ार करता बैठा रहा कि किसी चींटी को शक्कर का सुराग मिल जाए। ऐसे में सिर्फ धीरज का मामला होता है।

जैसे ही पहली चींटी शक्कर तक पहुंची, मैंने एक रंगीन पेंसिल उठाई और चींटी जैसे-जैसे चलती गई, उसके पीछे-पीछे मैं लकीर खींचता गया। इससे मुझे पता चल सकता था कि इस चींटी का मार्ग चिह्न कहां है। (मैंने पहले ही कुछ प्रयोग करके यह पता लगा लिया था कि पेंसिल के निशान से चींटियों को कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे धड़ल्ले से उसके ऊपर से रेंग जाती हैं। इसलिए मुझे पता था कि मैं किसी चीज़ को डिस्टर्ब नहीं कर रहा था।) वह चींटी शक्कर वाली जगह से वापस अपने बिल तक आने में थोड़ा इधर-उधर भटक गई थी। इसलिए मेरी बनाई हुई लकीर लाइन से चल रही चींटियों के मार्ग की तरह सीधी और व्यवस्थित नहीं थी। वह काफी घुमावदार व पेंचदार थी।

फिर शक्कर तक पहुंचने वाली दूसरी चींटी वापस लौटने लगी तो मैंने उसके रास्ते का पीछा एक दूसरे रंग की पेंसिल से किया। इस चींटी ने अपने आने के रास्ते पर न चलकर पहली चींटी के लौटने के रास्ते को अपनाया। मैंने इसके आधार पर यह सोचा कि शायद जब किसी चींटी को भोजन मिल जाता है तो उसके बाद वह बहुत तीव्र मार्ग-चिह्न छोड़ती चलती है। जबकि जब वे ऐसे ही भोजन की तलाश में मंडराती फिरती हैं तो मार्ग-चिह्न तुलनात्मक रूप से कमज़ोर होते हैं।

खैर, यह दूसरी चींटी काफी जल्दी में थी और वह लगभग हूबहू पहली चींटी के लौटने के रास्ते पर ही चली। लेकिन जल्दी-जल्दी में वह कई बार पहली लाइन के कई पेंचों पर से सीधी निकल जाती। ऐसा करते हुए उससे पल भर के लिए मार्ग-चिह्न छूट जाता, पर अगले ही पल वह उसे फिर पा लेती और उसके मुताबिक चलती जाती। इतने से ही ये स्पष्ट हो गया था कि दूसरी चींटी का रास्ता पहली की तुलना में काफी सीधा था। इसके बाद हर अगली चींटी के साथ

रास्ते की लकीर में लगातार इस तरह की 'बेहतरी' होती गई। हर बार अगली चींटी कुछ जल्दी में और कुछ लापरवाही से उससे पहले वाली के रास्ते पर चलती थी और उसके रास्ते की लकीर कुछ और सीधी हो जाती थी।

मैंने आठ या दस चींटियों का रंगीन पेंसिलों से पीछा किया और अन्त में मेरी रंगीन लाइन काफी सीधी हो गई। यह कुछ-कुछ चित्रकारी करने जैसा था। पहले आप एक फालतू-सी लाइन बनाते हैं, फिर आप दो-चार बार उसी को दोहराते हैं और कुछ देर बाद एक सुन्दर व्यवस्थित लाइन बन जाती है।

सहयागी चींटिया

मुझे याद है कि जब मैं छोटा था तो पिताजी बताते थे कि चींटियां कैसी गज़ब की होती हैं। कैसे वे एक-दूसरे का सहयोग करती हैं। मैं अक्सर तीन-चार चींटियों को मिलकर टॉफी का टुकड़ा अपने घर तक ले जाते हुए देखता था। सरसरी निगाह से देखो तो आपसी तालमेल है। लेकिन अगर तुम ध्यान से देखो तो पता चलता है कि ऐसा कुछ भी नहीं है। उन सबका व्यवहार ऐसा होता है जैसे कि उस टॉफी को किसी और ने पकड़ रखा है। कोई उसे एक तरफ खींचता है तो दूसरा दूसरी तरफ। जब बाकी चींटियां उस टुकड़े को खींच रही हों तो यह भी हो सकता है कि उनमें से एक उस के ऊपर ही चढ़ बैठे। मिठाई या टॉफी का टुकड़ा ठोकर खाता, लड़खड़ाता हुआ घिसटता जाता है, उसके आगे बढ़ने की कोई स्पष्ट दिशा भी नहीं रहती।

ब्राज़ील की पत्ते काटने वाली चींटियों में एक रोचक मूर्खता है। बाकी और कई बातों में ये चींटियां काफी होशियार हैं और मुझे इस बात का अचम्भा है कि उनकी यह सरलता (या मूर्खता) विकास के क्रम में खत्म कैसे नहीं हो गई। इन चींटियों को किसी पत्ते का एक टुकड़ा पाने के लिए उसे गोलाई में काटना होता है। इसमें काफी मेहनत लगती है। जब कटाई का यह काम पूरा हो जाए तो 50 फीसदी सम्भावना इस बात की होती है कि चींटी पत्ते को गलत दिशा में खींचने लगे और पत्ता नीचे गिर जाए। आधे समय तो यही होता है कि चींटी ने पत्ते के जिस हिस्से को काटा है उसे छोड़, दूसरे हिस्से को खींचती रहती है – कभी सीधे तो कभी घुमाकर। पर जब वह उसके हाथ नहीं आता तो वह फिर पत्ते के किसी नए हिस्से को काटने में जुट जाती है। अगर किसी चींटी को उसी के द्वारा पहले

कभी, या किसी और चींटी के द्वारा काटा हुआ पत्ता मिल जाए, तो शायद उसे पता भी नहीं चलता कि यह हिस्सा कटा हुआ है। वह उसे अपने घर ले जाने की कोशिश भी नहीं करती। तो, ध्यान से देखने पर यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई बहुत ही कुशल तरीके से पत्ते काटकर घर ले जाने का मामला नहीं है। बल्कि चींटियां किसी पत्ते तक जाती हैं, उसे करीने से गोलाई में काटती हैं और फिर आधे समय अनकटे हिस्से को खींचती-तानती जाती हैं। तब तक कटा हुआ हिस्सा कई बार नीचे गिर जाता है।

चींटियों से मुरब्बा बचाना

जब मैं प्रिंसटन में रहता था तो एक दिन चींटियों ने वह अलमारी ढूंढ ली जिसमें मैं डबलरोटी, और मुरब्बे जैसी खाने की चीज़ें रखता था। यह अलमारी खिड़की से काफी दूर थी। उस कमरे के फर्श पर चींटियों की एक लम्बी कतार चली जा रही थी। उन्हीं दिनों मैं चींटियों पर कई प्रयोग कर रहा था। तो मैंने अपने आपसे पूछा, "बिना इनको मारे मैं इन चींटियों को अलमारी तक जाने से कैसे रोक
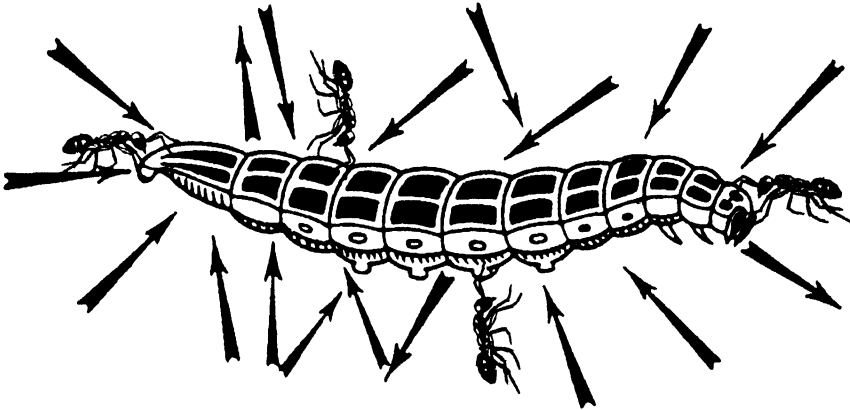
साथ-साथ काम करती चींटियां: एक इल्ली को खींचकर ले जाती हुई काफी सारी चींटि़यां अपने-अपने हिसाब से खींचने या ढकेलने का काम करती हैं। तीर के निशान चींटियों द्वारा लगाए जा रहे बल की दिशा को दर्शा रहे हैं। इससे यह भी दिखाई देता है कि कुछ चींटियां अपने साथियों की कोशिशों को बेकार करने में ही मदद कर रही हैं।

सकता हूं, बिना किसी ज़हर या दवा के? मुझे इन चींटियों के साथ इंसानियत से पेश आना चाहिए।"

तो जो कुछ मैंने किया वह कुछ यूं था। पहले तैयारी बतौर मैंने उस जगह से 6-8 इंच दूर कुछ शक्कर रख दी जहां से चींटियां छेद में से निकलकर कमरे में घुस रहीं थीं। यह काम इतनी सफाई से किया कि चींटियों को इसके बारे में भनक नहीं लगने दी। फिर मैंने एक बार फिर कागज़ मोड़कर चींटियों के लिए गाड़ियां बनाईं और ये गाड़ियां चींटियों के आने-जाने के रास्ते के पास-पास रख दीं। जैसे ही अलमारी से खाना लेकर लौट रही कोई चींटी गाड़ी पर चढ़ती, मैं तुरन्त उसे उठाकर शक्कर पर पहुंचा देता। इसी तरह अलमारी की ओर जाने वाली कोई चींटी अगर कागज़ की गाड़ी पर चढ़ जाती तो मैं उसे भी शक्कर तक पहुंचा देता। ऐसा करते-करते इन चींटियों ने शक्कर से अपने घर के छेद तक का रास्ता ढूंढ लिया। तो इस नए रास्ते पर काफी तीव्र मार्ग-चिह्न बनने लगे। धीरे-धीरे पुराने अलमारी वाले रास्ते पर चींटियों की आवाजाही काफी कम हो गई। फिर मैं निश्चिंत हो गया। मुझे पता था कि अगले आधे घण्टे में पुराने रास्ते के मार्ग-चिह्न सूख जाने वाले थे। ऐसा ही हुआ, अगले एक घण्टे में चींटियां मेरी अलमारी से जा चुकी थीं। और मुझे फर्श भी नहीं धोना पड़ा; बस मैं चींटियों को इधर से उधर गाड़ियों में घुमाता रहा!

रिचर्ड पी. फाइनमेन: (1918-1988) प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री।

अनुवाद: टुलटुल विश्वास: एकलव्य द्वारा प्रकाशित की जाने वाली बाल विज्ञान पत्रिका 'चकमक' में कार्यरत हैं।

यह लेख फाइनमेन की आत्मकथात्मक किताब 'श्योरली यू आर जोकिंग मिस्टर फाइनमेन' से लिया गया है।

कमल लोडाया, टी. वी. वेंकटेश्वरन

एक ग्रह जिसने वैज्ञानिकों को कई बरसों तक छकाया, और जब मिला भी तो गणनाओं के ज़रिए कागज़ पर मिला सबसे पहले। उसके बाद भी कितना मुश्किल था खगोलशास्त्रियों को प्रेरित करना कि गणना से इंगित स्थान पर आकाश में झांककर तो देखो किं ये वहां है भी कि नहीं। दो शीर्ष वैज्ञानिकों की कहानी जिसके अंत-अंत में राष्ट्रवाद का पुट भी शामिल हो गया।

यह कहानी है कोई 150 साल पुरानी – एक आकाशीय पिंड की खोज के बारे में। मज़ेदार बात तो यह है कि यह खोज पहले धरती पर हुई, कागज़ों पर तर्क के सहारे। और आकाश में तो बस यह जानने के लिए देखा गया कि क्या वो वहां है, जहां उसका होना बताया गया है।

सौर्य मंडल के ग्रह

हमारी जो भी जानकारी है उसमें सभी सभ्यताओं का योगदान है बेबिलोन, ग्रीक, भारतीय, चीनी सभी पुरानी सभ्यताओं का।

हमारी अपनी भारतीय सभ्यता में नवग्रह का ज़िक्र बार-बार आता है लेकिन ये सभी नौ के नौ पिंड वे ग्रह नहीं हैं जिन्हें कि हम आज ग्रह मानते हैं। इन नौ ग्रहों में से दो हैं 'सूर्य' और 'चंद्रमा'। आज हम जानते हैं कि सूर्य एक तारा है और चंद्रमा एक उपग्रह। इसी तरह अन्य दो ग्रह हैं – राहु और केतु जो कि बिल्कुल ही काल्पनिक हैं। बाकी पांच बचते हैं बुध, शुक्र, मंगल, गुरु और शनि। ये पांचों सही मायनों में ग्रह हैं।

ये पांचों ग्रह खुले आकाश में नंगी आंखों से देखे जा सकते हैं। अन्य स्थिर तारों के सापेक्ष आकाश में इनकी स्थिति बदलती रहती है। शायद यही एक वजह है कि काफी पुराने समय से हम इनके बारे में जानते हैं।

आकाश में इन ग्रहों की गतियों को समझने के लिए अलग-अलग तरह के सिद्धांत दिए जाते रहे हैं। 16 वीं सदी में एक पोलिश खगोलशास्त्री कोपरनिकस ने सूर्य को अपने सौर्य मंडल के केन्द्र में रखा और कहा कि ग्रह इसके चारों ओर घूमते हैं। तब जाकर यह समझ में आया कि अपनी धरती भी एक ग्रह है। तो अब हमारे पास छह ग्रह हो गए – बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुरु और शनि। ये सभी सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। चंद्रमा एक उपग्रह था जो पृथ्वी के चारों ओर घूमता था।

जब इन पांचों ग्रहों को टेलिस्कोप से देखा गया तो पाया कि ये तारों की तरह नहीं बल्कि छोटी चकती (डिस्क) की तरह दिखते हैं। कभी-कभी तो इन चकतियों पर धुंधली-सी रूप-रेखाएं भी दिखती हैं। और फिर गैलीलियो ने दिखाया कि कुछेक ग्रहों जैसे कि गुरु के तो खुद के भी उपग्रह हैं जो उसके चारों ओर घूमते हैं। और अंत में आइज़ेक न्यूटन ने समझाया कि सूर्य के गुरुत्वाकर्षण की मदद से इन ग्रहों की आकाशीय गति को बखूबी समझा जा सकता है।

कहां था यूरेनस

13 मार्च, 1781 – एक अंग्रेज़
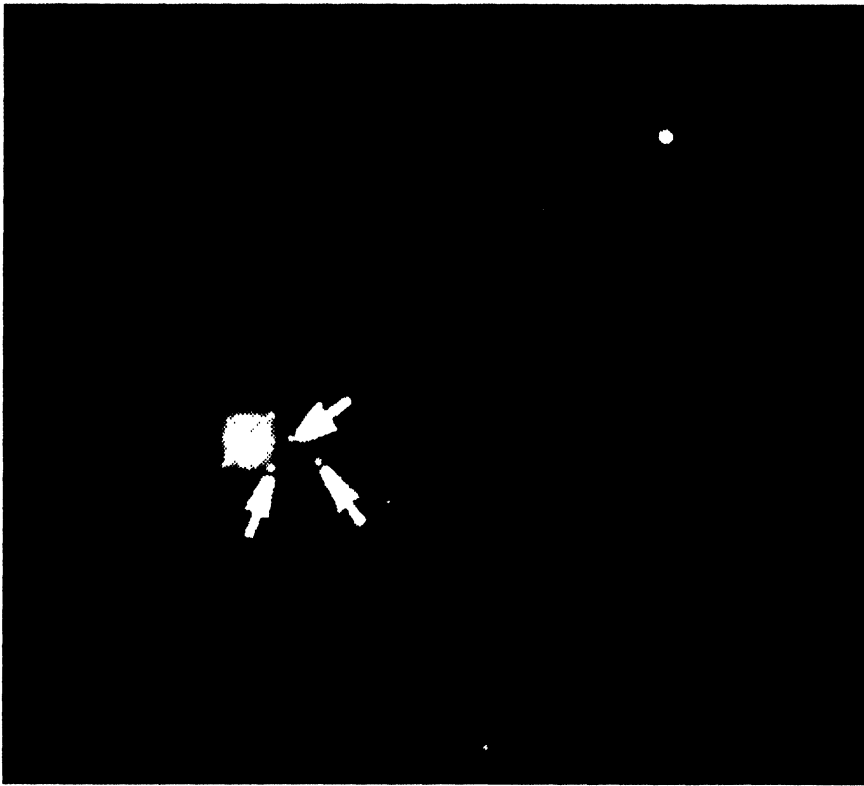
यूरेनस और उसके तीन उपग्रह: यूं तो यूरेनस के उपग्रहों की संख्या काफी बड़ी है लेकिन यहां लीक वेधशाला द्वारा खींची गई तस्वीर में यूरेनस के तीन उपग्रह साफ-साफ दिखाई दे रहे हैं। चित्र में बड़ा-सा, चमकीला गोला यूरेनस है और तीर के निशान से तीनों उपग्रहों को दर्शाया गया है।

संगीतज्ञ और शौकिया खगोलशास्त्री विलियम हर्शेल अपने टेलिस्कोप से आकाश में झांक रहा था कि उसे छोटा-सा चकती सरीखा पिंड दिख गया। उसने सोचा कि यह कोई धूमकेतु है लेकिन दरअसल वह था हमारे सौर्यमंडल का सातवां ग्रह। इस सातवें ग्रह को नाम दिया गया यूरेनस।

लेकिन यूरेनस की कक्षा की गणना करना काफी जटिल था क्योंकि यह सूर्य के चारों ओर काफी धीमी गति से चक्कर लगाता है। लेकिन एक जर्मन खगोलशास्त्री 'योहान बोड' ने ठान लिया कि वो यूरेनस से संबंधित सारे आंकड़े इकट्ठे करेगा।

संचार की दृष्टि से 1780 का दशक खासा मुश्किल था। लेकिन स्थितियां काफी तेज़ी से बदल रही थीं। बीस

साल पहले लंदन से ग्लासगो के सफर में दस दिन लगते थे लेकिन अब डाक भेजने के लिए घोड़ों का इस्तेमाल होने लगा था, जो डाक ले जा रहे डिब्बों को खींचने का काम करते थे। तो सन् 1800 तक आते-आते यह दस दिन का फासला सिकुड़कर तीन दिन में पूरा होने लगा।

बोड ने जो आंकड़े इकट्ठे किए उनकी सहायता से 1784 में यूरेनस की कक्षा तय की गई। यूरेनस की सूर्य से दूरी पृथ्वी से सूर्य की दूरी का उन्नीस गुना है; किलोमीटर में यह दूरी बैठेगी करीब 284 करोड़ किलोमीटर। और यूरेनस को सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाने में 84 साल 7 दिन लगते हैं।

चार साल बाद 1788 में पाया
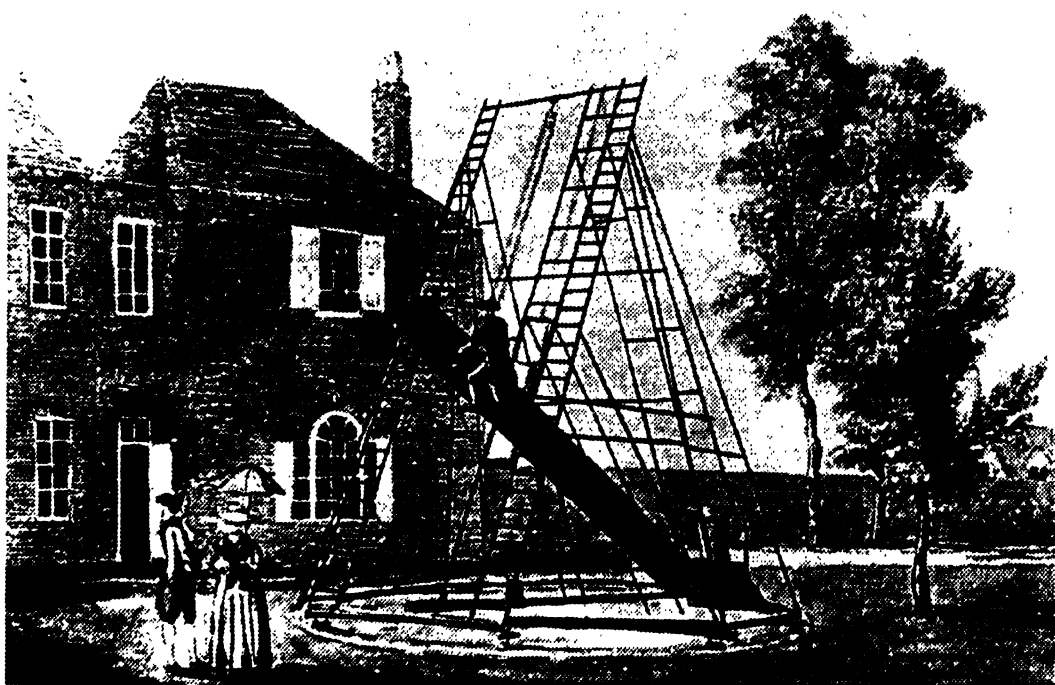
विलियम हर्शेल की दूरबीन: यूरेनस की खोज करने वाले विलियम हर्शेल (1738–1822) की विंडसर स्थित जागीर में बनाए गए बीस फीट लंबे टेलिस्कोप का एक दुर्लभ दृश्य। इस टेलिस्कोप से आकाश दर्शन करना काफी जोखिम भरा था क्योंकि इस टेलिस्कोप से चांद-तारे देखने के लिए बीस फीट की ऊंचाई पर नली के अगले सिरे के पास चढ़कर बैठना होता था। पूरी व्यवस्था इस तरह बनाई गई थी कि न सिर्फ इस नली को ऊपर-नीचे किया जा सकता था बल्कि उसे चारों ओर घुमाया भी जा सकता था।
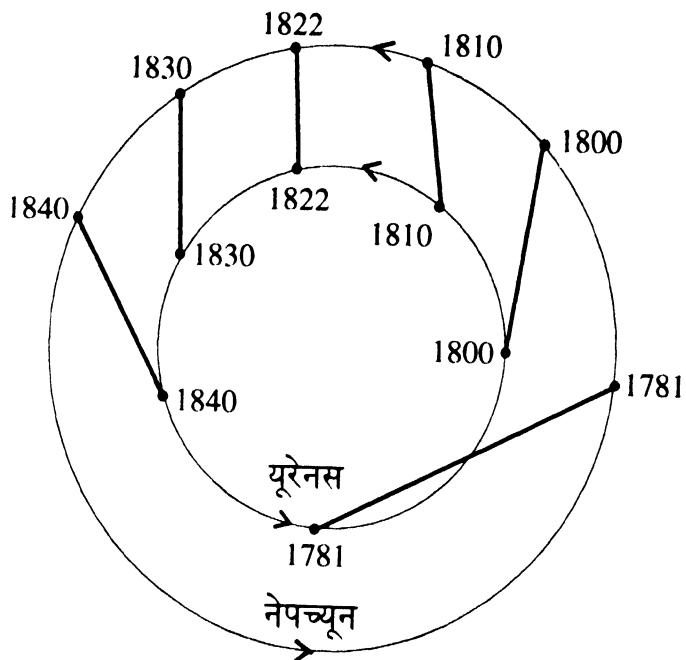
सापेक्षिक स्थितियां: 1781 से 1840 की बीच यूरेनस और नेपच्यून की सापेक्षिक स्थितियों में आए बदलावों को यहां दिखाने की कोशिश की गई है। 1822 के पहले नेपच्यून अपनी कक्षा में यूरेनस से आगे चल रहा था और यूरेनस को खींच रहा था। जिससे यूरेनस अपनी कक्षा में भटकन दिखा रहा था। 1822 में दोनों ग्रह युग्म बना रहे थे। इस समय यूरेनस ठीक अपनी कक्षा में रहता है। 1822 के बाद यूरेनस अपनी कक्षा में नेपच्यून से आगे चल रहा है। एक बार फिर नेपच्यून यूरेनस को खींचता है जिसकी वजह से यूरेनस फिर भटकने लगता है।

गया कि यूरेनस अपनी इस निर्धारित कक्षा में न चलकर इधर-उधर खिसक रहा है। फ्रांसीसी क्रांति की आपा-धापी के बीच 'ज्यों बेपटिस्ट दिलेम्बर' ने 1790 में यूरेनस की कक्षा का पुनर्निर्धारण किया।

इधर नेपोलियन द्वारा छेड़ी गई लड़ाइयों की वजह से आम जनजीवन व्यवस्थाएं तितर-बितर हो गई। 1815 तक आते-आते जब संचार के साधन फिर से स्थापित हुए, तो यह साफ होने लगा कि यूरेनस की कक्षीय गति दिलेम्बर द्वारा निर्धारित पथ से भी मेल नहीं खाती है, यूरेनस एक बार फिर इधर-उधर भाग रहा था।

इस वजह से 1820 में एलेक्सिस बोवार्ड ने पुराने अवलोकनों को दर किनार कर नई गणना करने का निर्णय लिया। उसके मुताबिक ऐसा करना इसलिए ज़रूरी था क्योंकि पहले के

अवलोकनों में जितनी बारीकी से गणनाओं का दावा किया गया था – उससे दस गुना की त्रुटियां पाई गईं थीं।

कई खगोलशास्त्री बोवार्ड की गणनाओं को लेकर कुछ शंकित थे। और उन्हें ज़्यादा इंतज़ार भी नहीं करना पड़ा – अभी चार साल भी नहीं गुज़रे थे कि यूरेनस ने एक बार फिर से अपने निर्धारित पथ से भटकना शुरू कर दिया। सभी चकित थे।

यूरेनस की इस भटकन को समझाने के लिए कुल मिलाकर पांच परिकल्पनाएं पेश की गईं। डाक की मदद से जल्द ही ये परिकल्पनाएं पूरे यूरोप में फैल गईं। लेकिन डाक इस बार घोड़ों ने नहीं पहुंचाई बल्कि एक नए माध्यम ने यह काम अंजाम दिया वो थी रेल। ये पांच परिकल्पनाएं थीं:

1. 17वीं सदी के एक प्रसिद्ध फ्रेंच वैज्ञानिक रेने देकार्त का मानना था कि अंतरिक्ष में एक आकाशीय द्रव्य भरा हुआ है। यह यूरेनस के पथ को प्रभावित कर सकता है। लेकिन सवाल था कि अगर ऐसा है तो यह बाकी ग्रहों के पथ को प्रभावित क्यों नहीं करता?

2. अपने यानी पृथ्वी के चंद्रमा के समान यूरेनस का भी एक बड़ा उपग्रह हो सकता है।

   इस परिकल्पना के साथ प्रमुख आपत्ति थी कि इतने बड़े आकार के चंद्रमा को, जो कि यूरेनस के पथ को प्रभावित करता है, टेलिस्कोप से दिखना चाहिए। लेकिन किसी ने नहीं देखा ऐसा कोई उपग्रह। विलियम हर्शेल ने खुद यूरेनस के दो उपग्रह खोजे थे। लेकिन इनका आकार इतना बड़ा नहीं था कि यूरेनस को उसके पथ से डिगा सके।

3. 1781 में यूरेनस की खोज से पहले शायद कोई धूमकेतू इससे टकराया हो और इस टक्कर ने यूरेनस का कक्षीय पथ बदल दिया हो। लेकिन बोवार्ड ने 1820 में गणनाएं की थीं और यूरेनस इनको भी नहीं मान रहा था।

4. सारी-की-सारी गणनाएं न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत पर आधारित थीं। तो क्या ऐसा तो नहीं है कि यह सिद्धांत अधिक दूरी पर स्थित आकाशीय पिंडों पर लागू नहीं होता या बदल जाता है। 1682 में एक धूमकेतु दिखा था और एडमंड हैली ने न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम के आधार पर घोषणा की थी कि यह 76 साल बाद फिर से वापस आएगा। यह धूमकेतु यूरेनस से आगे निकल गया और घोषणा के अनुसार 1758 में वापस लौट आया।

5. और अंतिम संभावना थी कि शायद कोई एक और आठवां ग्रह हो,

यूरेनस के भी आगे जो इसके कक्षीय पथ को प्रभावित करता हो।

और हैली धूमकेतु एक बार फिर से वापस आया 1835 में, वैज्ञानिकों की घोषणा के अनुरूप। इस समय तक यूरेनस को लेकर खगोलशास्त्रियों ने पहली चार परिकल्पनाएं अस्वीकृत कर दी थी और पांचवी पर अपना ध्यान केंद्रित कर लिया था।

1839 में रोलैण्ड हिल ने डाक सामग्री पर टैक्स लगाने की सोची। इसके दो साल बाद चिपकाने वाले डाक टिकट का आविष्कार हुआ और साथ ही टैक्स वसूलने का मामला आसान हो गया। कुछेक सालों में इधर-उधर भेजी जाने वाली डाक में काफी वृद्धि हो गई। साथ ही वैज्ञानिक पत्रिकाएं भी प्रसिद्ध होने लगीं जिससे वैज्ञानिक खोजों की जानकारी भी फुर्ती से सबके पास पहुंचने लगी।

एडेम्स और लेवेरियर

1835 में एडेम्स 18 साल का था और अन्य लोगों के समान उसने भी हैली के धूमकेतू को देखा। वह खगोल विज्ञान से काफी प्रभावित था। 1843 में उसने कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में परीक्षा पास की और तय किया कि वह 'यूरेनस की पहेली' पर काम करेगा।

एडेम्स ने खगोल शास्त्र के प्रोफेसर जेम्स चालिस को बताया कि वह इस पहेली पर कैसे काम करना चाहता है। उसको विश्वास था कि आठवां ग्रह ही यूरेनस की भटकन का कारण है। चालिस ने एडेम्स का उत्साह बढ़ाया। अक्टूबर तक आते-आते एडेम्स एक संभावित हल पर पहुंच गया।

परन्तु बीच में एक खलल आ गई। इस साल के अंत में फ्रेंच विज्ञानी 'हर्व फाए' ने एक धूमकेतु खोजा। एडेम्स ने उस धूमकेतु की कक्षा की गणना की और इस बात को भी आंका कि धूमकेतु का पथ बृहस्पति को कितना प्रभावित करेगा।

पता चला कि उधर फ्रांस में एक जवान वैज्ञानिक 'अरबेन ज्यों जोसेफ लेवेरियर' ने भी इस धूमकेतु पर गौर किया।

लेवेरियर काफी गंभीर और लगनशील विद्यार्थी था। पेरिस के इकोल पोलिटेक्नीक से स्नातक परीक्षा पास करने के बाद उसने खगोलशास्त्र में काम शुरू किया। धूमकेतुओं की कक्षा की गणना संबंधित उसके काम को काफी सराहा गया।

1844 में इटली के फ्रांसेसको डि' विको ने एक धूमकेतु खोज निकाला। चालिस ने एडेम्स से इस धूमकेतु की कक्षा की गणना करने को कहा। एडेम्स ने कक्षा की गणना की और अपने परिणाम लंदन के एक अखबार 'द

टाइम्स' में छपने को भेज दिए। परन्तु लेवेरियर के नेतृत्व में फ्रेंच वैज्ञानिक पहले ही ये परिणाम पा चुके थे।

लेवेरियर के काम से पेरिस खगोल शाला का निदेशक काफी प्रभावित हुआ। उसको लगा कि लेवेरियर 'यूरेनस की पहेली' पर काम करने के लिए मुफीद (उपयुक्त) व्यक्ति है इसलिए 1845 की गर्मियों में उसे यह काम सौंप दिया गया।

इधर कैम्ब्रिज में एडेम्स एक बार फिर से यूरेनस पर काम कर रहा था। सितंबर 1845 के मध्य तक उसने अपनी गणनाएं पूरी कर लीं। अगले साल ब्रिटिश खगोल विज्ञान एसोसिएशन की बैठक होने वाली थी और एडेम्स इसमें अपनी शोध प्रस्तुत कर सकता था लेकिन चालिस ने उससे कहा कि वह अपनी गणनाओं की एक प्रति एस्ट्रोनोमर रॉयल जॉर्ज एरी को भेजे। चालिस जॉर्ज एरी को व्यक्तिगत तौर पर जानता था।

वो राजकीय खगोलशास्त्री

सैद्धांतिक जांच-पड़ताल में एरी का कोई विश्वास नहीं था। साथ ही युवा वैज्ञानिकों की क्षमताओं को लेकर भी वह खासा सशंकित था। उसका मानना था कि वे किसी समस्या के व्यापक अध्ययन की बजाए बैठे-बैठे गणना करना ही ज़्यादा पसंद करते हैं।

एरी का मत था कि अगर यूरेनस के पथ में विचलन के अवलोकन के सहारे उल्टा चला जाए और गणना की जाए तो इसमें सदियां निकल जाएंगी; क्योंकि यूरेनस सूर्य का एक चक्कर लगाने में 84 वर्ष लेता है और हमें ऐसे कई चक्करों के अवलोकन लेने होंगे।

एडेम्स सन् 1845 की सितंबर को ग्रीनविच स्थित राजकीय खगोल-शाला पहुंचा लेकिन एरी वहां मौजूद नहीं था। एरी ने एडेम्स को खत लिखकर अपनी अनुपस्थिति के लिए खेद व्यक्त किया। एडेम्स अक्टूबर में एक बार फिर से ग्रीनविच गया, लेकिन एरी घर पर नहीं था। एडेम्स उसी दिन एक बार और उसके घर गया। इस बार उसे बताया गया कि एरी अभी खाना खा रहे हैं। एडेम्स ने थोड़ा अपमानित महसूस किया और उसने अपनी गणनाओं के साथ एरी के लिए एक चिट्ठी छोड़ी और वापस कैम्ब्रिज लौट आया।

एरी ने एडेम्स की चिट्ठी को कोई खास तवज्जो नहीं दी। एरी के जवाब को पढ़ने के बाद एडेम्स को लगा कि एरी ने उसकी गणनाओं को पढ़ा भी है कि नहीं। उसको काफी निराशा हुई।

इसी दौरान फ्रांस में लेवेरियर यूरेनस से संबंधित सारी गणनाओं की जांच-पड़ताल कर चुका था। 10 नवंबर

1845 को उसने 'फ्रेंच एकेडमी ऑफ साइंसेज़' में अपना पर्चा प्रस्तुत किया। इसमें उसने कहा कि यूरेनस की भटकन के पीछे कोई 'बाहरी कारण' है।

एकेडमी ऑफ साइसेंज़ जिन लोगों को अपनी गतिविधियों से अवगत कराते रहते थे एस्ट्रोनोमर रॉयल भी उनमें से एक था। तो एरी को भी लेवेरियर का पर्चा मिला। यह दिसंबर 1845 की बात है। उसको लगा कि इस विषय की जांच-पड़ताल काफी गहराई से की गई है। एडेम्स की गणनाओं के मुकाबले एरी लेवेरियर के पर्चे से काफी प्रभावित हुआ। लेवेरियर ने 1846 में भी इस पहेली पर काम करना जारी रखा। काफी मुश्किल और जटिल गणनाएं करने के बाद वह इस स्थिति में आ गया था कि वह प्रस्तावित ग्रह की आकाशीय स्थिति (जगह) को घोषित कर सके।

सभी ने लेवेरियर के इस काम की काफी तारीफ की। लेकिन किसी भी फ्रेंच खगोलशास्त्री ने आकाश में इस ग्रह को खोजने की रत्ती भर भी कोशिश नहीं की।

लेवेरियर के इस दूसरे पर्चे ने एरी को और भी खुश कर दिया क्योंकि शायद इसके परिणाम एडेम्स के नतीजों से काफी मेल खाते थे।

एरी ने लेवेरियर को एक खत लिखा और पूछा कि गणना के दौरान उसने किसी चीज़ को अनदेखा तो नहीं किया या छोड़ा तो नहीं है। लेवेरियर ने काफी साफगोई दिखाई और वापस जवाब दिया कि उसने गणना करने में सभी पहलुओं का ध्यान रखा है। साथ ही लेवेरियर ने एरी को यह भी लिखा कि क्या वह उस स्थान का अवलोकन कर ग्रह को खोज सकता है जहां कि उसे ग्रह के होने की उम्मीद है। लेकिन अपने अन्य फ्रेंच बंधुओं के समान एरी ने भी आकाश खंगालने में कोई दिलचस्पी नहीं ली।

और 9 जुलाई 1846 को राजकीय खगोलज्ञ एरी ने चालिस को लिखा कि वह कैम्ब्रिज वेधशाला के टेलिस्कोप की मदद से आकाश में आठवें ग्रह को खोजे। लेकिन क्या एरी ने चालिस को आकाश में उस स्थान का अवलोकन करने को कहा जहां कि एडेम्स और लेवेरियर को उम्मीद थी कि आठवां ग्रह होगा? नहीं, उसने चालिस को कहा कि वह एरी की विधि से आकाश का अवलोकन करे और यह विधि काफी लंबी और जटिल थी।

चालिस को लगा कि एरी की सुझाई विधि से काम नहीं चलेगा। उसने अपनी खुद की विधि अपनाने का तय किया या यूं कहें कि एरी की भी और अपनी भी, जब जिससे काम चले। चंद्रमा की रोशनी, खराब मौसम और बादलों की वजह से, काम काफी धीमी गति से आगे बढ़ा। 12 अगस्त तक सिर्फ
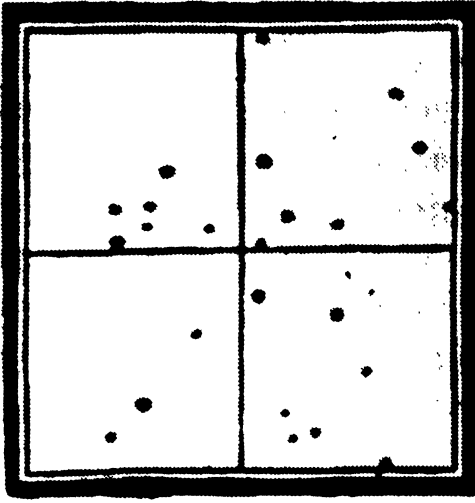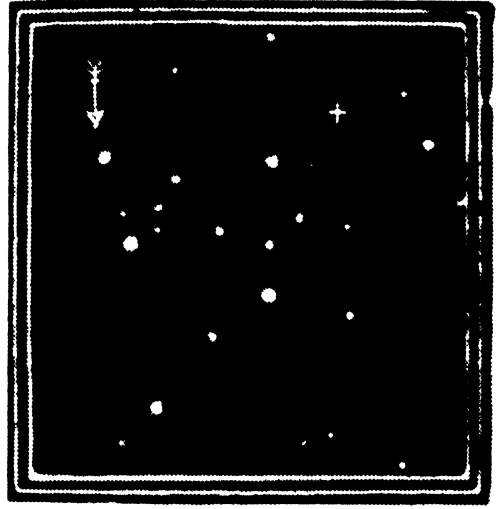
उपलब्ध मानचित्र आसमानी हकीकत

यूं पलटी नेपच्यून की किस्मत: 1846 में बर्लिन ऑबज़रवेट्री के जे. जी. गाले और हेनरिक डी अरेस्ट के पास यही मानचित्र उपलब्ध था जिसमें मकर राशि के तारों की जानकारी दर्शाई गई थी। इन दोनों ने एक-एक तारे की आसमानी स्थिति और मानचित्र में दिए विवरण में मिलान किया। दाहिनी ओर के मानचित्र को ध्यान से देखिए, इसमें तीर बनाकर नेपच्यून को दिखाया गया है। इसी मानचित्र में एक धन का चिन्ह भी दिखाई दे रहा है। लेवेरियर ने यहां नेपच्यून के होने की संभावना व्यक्त की थी। कागज़ी पूर्वानुमान और आसमानी स्थिति में सिर्फ एक डिग्री का अंतर था।

39 तारों की जांच ही हो सकी।

31 अगस्त को लेवेरियर ने फ्रेंच एकेडमी में अपना तीसरा पर्चा पेश किया। इसमें उसने कहा कि उसे उम्मीद है कि आठवां ग्रह मकर नक्षत्र के डेल्टा नामक तारे के आसपास मिलेगा।

लेकिन लेवेरियर की इस गणना को उसके सहयोगियों ने कैसे लिया? कहीं भी कोई दिलचस्पी नहीं दिखी। यहां तक कि पेरिस वेधशाला के निदेशक ने किसी को भी आठवें ग्रह की खोज के काम पर नहीं लगाया।

।पच्यून की खोज

लेवेरियर काफी देशभक्त किस्म का इंसान था लेकिन अब उसका धैर्य चूकने लगा। 18 सितंबर को उसने जर्मनी की बर्लिन वेधशाला में काम कर रहे योहान गाले को एक खत लिखा। यह खत गाले को 23 सितंबर को मिला। बर्लिन वेधशाला के निदेशक योहान एन्के ने इस मामले में कोई उत्साह नहीं दिखाया परंतु उससे उल्टा गाले लगनशील व्यक्ति था। उसको मदद मिली एक अन्य जर्मन विद्यार्थी हेनरिक

डी' अरेस्ट की और आखिरकार उन्हें आठवें ग्रह की खोज के लिए आकाश छानने की स्वीकृति मिल ही गई।

और उसी रात यानी 23 सितंबर 1846 को गाले ने अपने 9 इंची टेलिस्कोप को आकाश में उस स्थान पर तान दिया जहां कि ग्रह के मिलने की संभावना थी। या यूं कहें कि उस समय इस आठवें ग्रह की किस्मत ने अचानक पलटा खाया।

मकर राशि के तारों की स्थिति का एक नक्शा बर्लिन वेधशाला को

नेपच्यून और उसके उपग्रह: नेपच्यून आकार में लगभग यूरेनस जितना ही है। लीक ऑबज़रवेट्री द्वारा खींची गई इस तस्वीर में नेपच्यून के दो उपग्रह भी दिखाई दे रहे हैं। इनमें से एक उपग्रह ट्रिटॉन आकार में धरती के चांद के बराबर है। नेपच्यून सूरज का एक चक्कर 165 साल में पूरा करता है। नेपच्यून को आसमान में पहली बार 1846 में जिस जगह देखा गया था यदि उसे शुरुआती बिन्दु मान लें तो सन् 2011 में नेपच्यून फिर से उसी स्थान पर पहुंचेगा।

हाल ही में मिला था। गाले आकाश में तारे को देखता, उसका विवरण बताता और डी अरेस्ट नक्शे में उस तारे का मिलान करता। अभी उन्होंने कुछ ही तारों का मिलान किया था कि गाले ने एक तारे का विवरण बताया जिसका कोई उल्लेख डी अरेस्ट को नक्शे में नहीं मिला।

उत्तेजित डी अरेस्ट भागकर गया और योहान एन्के को वेधशाला में खींच लाया। अगली रात उस 'तारे' की गति साफ समझ में आ गई।

और 25 सितंबर को उत्साह से भरे हुए गाले ने लेवेरियर को लिखा: "वो ग्रह जिसकी स्थिति तुमने दर्शाई उसका सचमुच अस्तित्व है।"

कौन था पहला शख्स

उसके बाद के घटनाक्रम की कल्पना की जा सकती है। चालिस को लगा कि अगर 12 अगस्त को उसने तारा क्रमांक 49 की जांच जारी रखी होती तो उसे नेपच्यून मिल जाता। चालिस ने एडेम्स के काम और अपनी खोजबीन के बारे में एक लंबा पर्चा लिखा।

फ्रांस के लोग, खासतौर से लेवेरियर, इस पर्चे से काफी खफा हुए। लेवेरियर ने एरी को लिखा कि अगर उसे एडेम्स की गणना के बारे में मालूम था तो उसने उस खत में इस गणना का ज़िक्र क्यों नहीं किया जिसमें उसने पूछा था कि 'तुमने किसी पहलू को अनदेखा तो नहीं किया।'

उधर ब्रिटेन में लोग एरी और चालिस के इस गैर ज़िम्मेदारानापन से काफी नाराज़ थे। चालिस ने कबूल किया कि सितंबर 1845 में जब एडेम्स ने अपनी गणना पूरी कर ली थी, उसने आठवें ग्रह की बिल्कुल भी खोजबीन नहीं की क्योंकि उसे लगा कि किसी सैद्धांतिक गणना के आधार पर आकाशीय अवलोकन करने का ख्याल काफी बचकाना है।

इन सारे वाद विवादों के बीच नवंबर में एडेम्स को रॉयल एस्ट्रॉनोमिकल सोसायटी में अपने शोध को प्रस्तुत करने का मौका आखिरकार मिल ही गया। उसके विश्लेषण को सुनने के बाद सुनने वालों को विश्वास हो गया कि उसने इस आठवें ग्रह की पहेली पर काफी गंभीरता से काम किया है।

इसी बीच फ्रांस के सम्राट लुईस फिलिप ने लेवेरियर को फ्रांस का एक बड़ा सम्मान देने की घोषणा की। इधर रॉयल सोसाइटी ऑफ लंदन ने भी आठवें ग्रह की खोज के लिए लेवेरियर को कोपले मेडल से नवाज़ा। साथ ही ब्रिटेन में लोग पुरजोर मांग कर रहे थे कि ऐडम्स को भी सम्मानित करना चाहिए। मामला तब शांत हुआ जब ब्रिटिश एसोसिएशन ने जून 1847

में लेवेरियर को अपनी बैठक में बुलाया।

यहां एडेम्स पहली बार लेवेरियर मे मिला। इस बैठक में शामिल एक व्यक्ति ने बाद में इस मुलाकात के बारे में लिखा कि दोनों व्यक्ति एक-दूसरे के साथ काफी देर तक पैदल घूमते रहे और एक-दूसरे की तारीफ करते रहे, उन दोनों में ईर्ष्या की भावना बिल्कुल भी नहीं थी। बाद में नेपच्यून की खोज के साथ दोनों व्यक्तियों का नाम जुड़ गया।

कमल लोडाया: आइ. एम. एस. इ. में कम्प्यूटर साइंस के प्रोफेसर हैं। चैन्नई से अंग्रेज़ी बाल विज्ञान पत्रिका 'जंतर-मंतर' प्रकाशित करते हैं।

टी. वी. वेंकटेश्वरन: सेंटर फॉर डिवेलपमेंट ऑफ इमेजिंग टेक्नॉलॉजी, तिरुवनंतपुरम में विज्ञान संचार के वरिष्ठ व्याख्याता।

अनुवाद: दीपक वर्मा: संदर्भ पत्रिका में कार्यरत हैं। अभी वे सेंटर फॉर डिवेलपमेंट ऑफ इमेजिंग टेक्नॉलॉजी में अध्ययन कर रहे हैं।

स्कूली किताबों की भाषा

स्कूली किताबों को बच्चों को ध्यान में रखकर लिखी जाने का दावा किया जाता है। फिर बच्चों को किताबों से यह शिकायत क्यों रहती है कि किताबों की भाषा उनके आसपास के माहौल से मेल नहीं खाती, किताबों में कठिन शब्द और कुछ अस्पष्ट उदाहरण होते हैं, जिसकी वजह से पाठ समझ नहीं आता।
क्या बच्चों की इन शिकायतों को दूर कर पाना संभव है?

उमेश चंद्र चौहान

मैं कुछ वर्षों से राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, भोपाल में प्राथमिक कक्षाओं की विज्ञान व पर्यावरण अध्ययन की पाठ्यपुस्तकों के लेखन एवं सम्पादन में सहयोग करता रहा हूं। इसी सिलसिले में एक बार घर से रवाना हो रहा था कि मेरी छोटी बेटी 'कीर्ति' ने मुझे याद दिलवाया।

"पापा, आप किताब लिखने तो जा रहे हैं पर ध्यान रखना मैंने क्या कहा था?"

मैंने कहा, "हां बेटी, मुझे अच्छी तरह याद है तुमने क्या कहा था। मैं अपने मित्रों को भी तुम्हारी बात ज़रूर बताऊंगा।"

आप जानना चाहेंगे वो कौन-सी बात की याद दिलवा रही थी?

कीर्ति जब प्राथमिक शाला में पढ़ती थी तब उसकी हमेशा यही शिकायत रहती थी, "पापा किताब में कठिन शब्द क्यों होते हैं? ऐसे शब्द जो हमारी

समझ में आते ही नहीं। चाहे विज्ञान हो, गणित हो या हिन्दी के पाठ – जो भाषा हम बोलते हैं, वैसी ही भाषा में किताब क्यों नहीं लिखते?"

उसने अपनी बात जारी रखी, "मैडम कह देती हैं पाठ घर से पढ़कर आना, हम कल पूछेंगे। पर पढ़ने के बाद कुछ समझ में तो आना चाहिए। जिसके घर कोई बताने वाला न हो वह किससे पूछकर समझे? क्या फायदा केवल पाठ पढ़ने से।"

इस बारे में उसने 'चकमक' पत्रिका में सवालीराम के नाम एक पत्र भी लिखा था – 'मेरी किताब के कठिन शब्द'। उसका कहना है कि जब हम 'बगीचा' समझते हैं, बोलते हैं, तब 'उद्यान' लिखने से क्या फायदा। हम कब बोलते हैं कि 'चलो उद्यान में चलते हैं'। उसकी बात को पुस्तक के इस वाक्य से अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

"वर्तमान में यूरोप में अधिकांश देशों में हिन्दी का अध्ययन अध्यापन सतत् रूप से उत्तरोत्तर दिशा में अग्रसर हो रहा है।"

इसी गद्यांश को इस प्रकार भी लिखा जा सकता था – "आजकल यूरोप के बहुत सारे देशों में हिन्दी को पढ़ा और पढ़ाया जा रहा है।" मैं समझता हूं दूसरा तरीका कहीं अधिक सरल एवं बालकों के लिए ग्राह्य है।

किताब में प्रस्तुतिकरण

इसी प्रकार विज्ञान में भी अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जैसे शरीर के आंतरिक अंगों के अंतर्गत कंदुक-गर्तिका या कन्दुक खल्लिका (Ball and Socket Joint) पढ़ाते समय बच्चों को समझा या रटा दिया जाता है कि कंधे और कूल्हे में इस प्रकार का जोड़ है। बच्चे इस शब्द और संबंध को रटकर याद करते हैं, समझकर कतई नहीं।

कोहनी और घुटने के जोड़ों (कब्जा संधि) के लिए दरवाज़े में लगे कब्जे का उदाहरण दिया जाता है। अधिकांश दरवाज़े मात्र 90 अंश ही खुलते हैं; जबकि हमारे हाथ, कोहनी के जोड़ पर 180 अंश तक खुल जाते हैं। यहां अवधारणाएं और उनके लिए दिए जाने वाले उदाहरण अस्पष्ट हैं। इसके लिए पेटी या अटैची के कब्जे का उदाहरण देना कहीं ज़्यादा बेहतर हो सकता है।

इस तरह की आंतरिक रचनाओं को समझने के लिए सरल एवं व्यावहारिक उदाहरण या मॉडल इस्तेमाल करना ज़्यादा उपयुक्त होता है। आइए हड्डियों और मांसपेशियों की अवधारणा को एक ऐसे उदाहरण के ज़रिए समझने की कोशिश करें।

थोड़ी-सी रुई लो। अपने पेन के बराबर रुई की बत्ती बनाओ। बत्ती
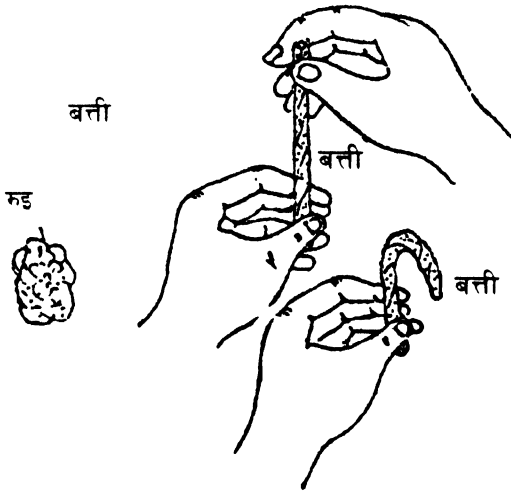
चित्र-1: रुई मे बत्ती बनाकर उसे सीधा खड़े करने पर वह मुड़ जाती है जिससे उसके भीतर किसी कड़ी चीज़ का अभाव समझ में आता है।

को चित्र में बताए अनुसार पकड़ो। अब ऊपर वाला हाथ छोड़ दो।

प्रश्न: क्या, बत्ती खड़ी है या मुड़ गई?

अब एक तार का टुकड़ा या काड़ी लो। उस पर रुई लपेट कर फिर से बत्ती बनाओ। तार या काड़ी का एक सिरा पकड़कर बत्ती को खड़ी करो।

प्रश्न: इस बार बत्ती क्यों नहीं मुड़ी?

बत्ती को दबाकर देखो।

प्रश्न: क्या तुम्हें बत्ती के अंदर छिपी काड़ी महसूस होती है?

अपनी कोहनी और कलाई के बीच कई जगह दबाकर देखो।

प्रश्न: क्या तुम्हें चमड़ी के अंदर कुछ कठोर लकड़ी जैसी कोई चीज़ महसूस
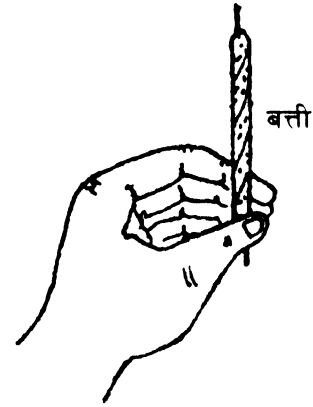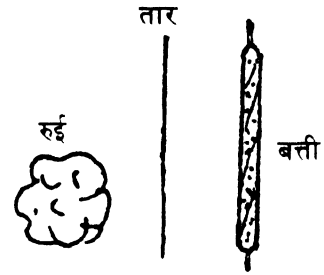
चित्र-2: रुई और तार की मदद से बत्ती बनाकर हड्डी की अवधारणा को समझना।

होती है?

ये शरीर के अंदर छिपी हड्डियां हैं।

प्रश्न: क्या तुम्हें चमड़ी के नीचे गद्देदार नरम मांसल भाग भी महसूस हुआ?

ये हमारी मांस पेशियां हैं।

जिस प्रकार काड़ी पर रुई ढंकी थी, उसी प्रकार हड्डियों पर मांस
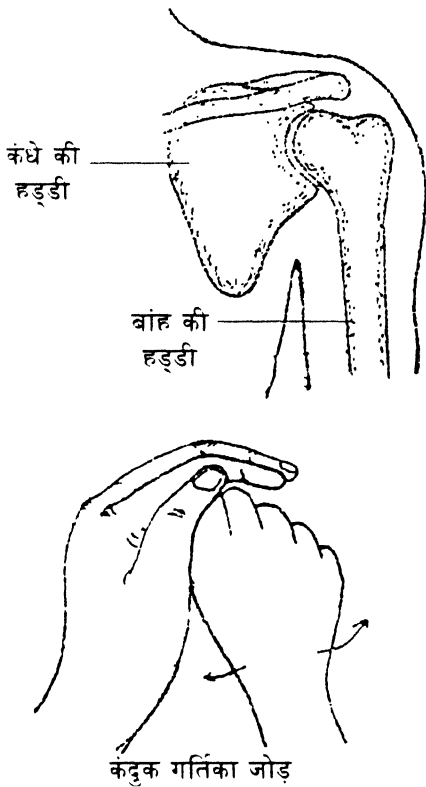
चित्र-3: कंधे की हड्डी किस तरह काम करती है इसे समझने के लिए इस तरह की युक्ति काम में लाई जा सकती है।

पेशियां चिपकी होती हैं। एक हड्डी पर एक से अधिक मांस पेशियां होती हैं। ये रचनाएं चमड़ी के नीचे ढंकी रहती हैं।

मुझे कंदुक-गर्तिका जोड़ के लिए भी हमेशा किसी मॉडल की तलाश करना पड़ती थी लेकिन अब इसके लिए भी एक सुझाव है।

अपने एक हाथ के पंजे को नाग के फन की तरह बनाओ। हथेली और अंगुलियों से बने गड्ढे में दूसरे हाथ की मुट्ठी बंद करके रखो। चित्र में बताए अनुसार मुट्ठी को चारों ओर घुमाओ। ठीक इसी तरह तुम्हारे कंधे की हड्डी में बने गड्ढे में बांह की हड्डी घूमती है। तुम्हारी जांघ की हड्डी और कूल्हे की हड्डी का जोड़ भी इसी तरह का है।

इस तरह हम एक अमूर्त अवधारणा को मूर्त उदाहरण/मॉडल की सहायता से ज़्यादा सरल ढंग से बच्चों को समझा सकते हैं और इन अवधारणाओं को बच्चों के स्तर के अनुकूल बना सकते हैं।

हम किताब लिखते समय शायद यह भूल जाते हैं कि बच्चों का स्तर क्या है? लेखक स्वयं की योग्यता को लेखन के माध्यम से बालकों पर थोप देते हैं। मुंशी प्रेमचंद जैसे लेखकों ने बहुत ही सरल शब्दों में कई रोचक किस्से-कहानियां लिखी थीं जो आज भी लोकप्रिय हैं। उच्च पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भाषा साहित्य लेखन व अध्ययन के लिए सुरक्षित रखना ज़्यादा उचित होगा।

शिक्षकों की भागीदारी

जिन कक्षाओं के लिए किताबें लिखी जा रही हैं उन कक्षाओं को पढ़ाने वाले अनुभवी शिक्षकों को लेखन

कार्यशालाओं में आमंत्रित किया जाना ज़रूरी है। आमतौर पर पाठ्य-पुस्तक लेखन कार्यशालाओं में ऐसे अनुभवी शिक्षकों के लिए कोई जगह नहीं होती। हो सकता है कि प्राथमिक शाला में अध्यापन कर रहे शिक्षकों में लेखन क्षमता का अभाव हो, लेकिन वे लेखकों द्वारा लिखी जा रही विषय वस्तु की समालोचना करके उसी समय भाषा, अवधारणा या स्तर संबंधी टिप्पणी देकर किताब को बालकों के लिए अधिक उपयोगी बनाने में तो मददगार हो ही सकते हैं। इसलिए ऐसे अनुभवी शिक्षकों का अपना महत्व है।

अक्सर नये लेखकों को सम्मिलित करने में यह कहकर आना-कानी की जाती है, 'अरे! उनको लेखन अनुभव नहीं है, उन्होंने कोई पुस्तक समीक्षा नहीं की है, विषयवस्तु पर टिप्पणी नहीं की है वगैरह-वगैरह।' लेकिन यह भी सच है कि यदि आप व्यक्ति को अवसर ही नहीं देंगे तो उसे और आपको उस व्यक्ति की क्षमता के बारे में पता कैसे चलेगा। अक्सर शिक्षक हर कठिन विषय वस्तु को अपने ढंग से सरल करके बच्चों को समझाने का प्रयास करते हैं। वे आपस में पुस्तक की समीक्षा, आलोचना ज़रूर करते हैं किन्तु टिप्पणी लिखने से अक्सर कतराते हैं।

क्या हम पाठ्य पुस्तक लेखन कार्यशालाओं के पहले अनुभवी शिक्षकों की एक अग्रिम कार्यशाला का आयोजन नहीं कर सकते, जो पुरानी किताबों की समीक्षा करके उसकी अच्छाइयों और कमियों को उजागर करे? यदि ऐसा किया जाए तो मैं समझता हूं कि फिर बालकों को ये शिकायत कतई नहीं होगी कि किताब की भाषा इतनी बेगानी क्यों है।

उमेश चन्द्र चौहान: हरदा ज़िले की टिमरनी तहसील में विज्ञान शिक्षक हैं। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के स्रोतदल के सदस्य। लेख में दिए गए सब चित्र भी उन्होंने बनाए हैं।

यह लेख राजस्थान से प्रकाशित होने वाली, 'शिविरा पत्रिका' के मार्च 1996 के अंक में प्रकाशित हो चुका है।

लैंगिक द्विरूपता

अरविंद गुप्ते

आमतौर पर हमारे आसपास के जीव-जंतुओं में नर-मादा का फर्क हम आसानी से कर पाते हैं क्योंकि इनमें लैंगिक द्विरूपता होती है। लेकिन कुछ ऐसे भी जीव हैं जिनमें नर-मादा का भेद कर पाना खासा कठिन है। क्यों होती है यह लैंगिक द्विरूपता और कुछ जीवों में क्यों होती है?

विज्ञान शिक्षकों की एक गोष्ठी में किसी ने यह प्रश्न उठा दिया कि क्या नर और मादा कौओं को भिन्न-भिन्न पहचाना जा सकता है? एक शिक्षिका ने कहा, "यह तो बहुत आसान है। जिसका रंग पूरी तरह काला होता है वह तो है मादा कौआ या कागली, और जिसके सिर और गर्दन पर राख जैसा रंग होता है वह है नर।"

किंतु मामला इतना सरल नहीं है। पूरे काले रंग वाला और भूरे रंग वाला

कौआ वास्तव में कौओं की दो अलग-अलग प्रजातियां हैं। इन दोनों में मादा और नर होते हैं किंतु इन्हें भिन्न-भिन्न पहचानना आसान नहीं होता।

नर और मादा को लेकर एक अलग प्रकार का भ्रम कोयल के बारे में होता है। इतने कवियों ने 'काली कोयलिया' का गुणगान किया है कि यह आम धारणा बन गई है कि वसंत ऋतु में कुहू-कुहू की रट लगाने वाली मादा कोयल होती है। वस्तुस्थिति यह है कि कूकने वाला, काले रंग का नर कोयल होता है; मादा का शरीर तो चितकबरा होता है यानी वह हल्के कत्थई रंग की होती है और उस पर सफेद धब्बे होते हैं। मादा कोयल कूक ही नहीं सकती, वह केवल किकू-किकू की आवाज़ कर सकती है।

यदि किसी प्रजाति के नर और मादा बाहर से देखने में भिन्न-भिन्न हों यानी उन्हें अलग-अलग पहचाना जा सके तो इसे लैंगिक द्विरूपता (सेक्सुअल डाइमॉर्फिज़म) कहते हैं। जैसा कि हम कौए में देख चुके हैं, जंतुओं की कुछ प्रजातियों में लैंगिक द्विरूपता होती ही नहीं है। जिन जंतुओं में लैंगिक द्विरूपता होती है उनमें नर और मादा की बनावट के अंतर के बावजूद यह तो पहचाना जा सकता है कि वे एक ही प्रजाति के जंतु हैं। किंतु कुछ प्रजातियों में इतनी अधिक लैंगिक द्विरूपता होती है कि नर और मादा भिन्न-भिन्न प्रजातियों के सदस्य लगते हैं। इसका उदाहरण हम कोयल में देख चुके हैं।

क्यों होती है लैंगिक द्विरूपता

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, लैंगिक द्विरूपता का संबंध नर और मादा लिंगों से यानी लैंगिक प्रजनन से है। मूल रूप से लैंगिक प्रजनन पूरी तरह एकल कोशिकाओं का खेल है। जंतु चाहे छोटे-से-छोटा हो या बड़े-से-बड़ा, उसकी शुरुआत अंडाणु नाम की एक कोशिका से होती है जो मादा के शरीर में स्थित एक ग्रंथि, अंडाशय में बनती है। किंतु अंडाणु से एक जीवधारी तब तक नहीं बन सकता जब तक उसका मिलन नर जंतु की वृषण ग्रंथि में बनी एक अन्य कोशिका, शुक्राणु से नहीं हो जाता। अंडाणु और शुक्राणु दोनों को युग्मक कहते हैं और इनके आपस में मिलने की प्रक्रिया को निषेचन।

अंडाशय और वृषण प्राथमिक प्रजनन अंग कहलाते हैं, प्रजनन तंत्र के शेष सभी अंगो को सहायक प्रजनन अंग कहते हैं।

केवल नर स्तनधारियों में प्राथमिक प्रजनन अंग यानी वृषण शरीर के बाहर एक थैली या वृषण-कोश में लटके होते हैं; और इनके कारण नर स्तनधारी

को सरलता से पहचाना जा सकता है। शेष सभी जंतुओं में अंडाशय और वृषण शरीर के भीतर स्थित होते हैं। यदि कौए का विच्छेदन किया जाए तो उसके शरीर के भीतर अंडाशय या वृषण होने से उसके मादा या नर होने का पता तो चल ही जाता है, किंतु बाहर से देखने पर लैंगिक द्विरूपता नहीं होती।

अधिकांश जंतुओं में कोई-न-कोई सहायक प्रजनन अंग शरीर के बाहर स्थित होते हैं और इनकी सहायता से नर और मादा में अंतर किया जा सकता है।

कुछ जंतुओं में ऐसे लक्षण पाए जाते हैं जिनका प्रजनन से सीधा संबंध तो नहीं होता किंतु चूंकि ये लक्षण केवल मादा या नर में होते हैं इसलिए इनकी मदद से जंतु का लिंग पहचाना जा सकता है। मुर्गे के सिर पर पाई जाने वाली कलगी, नर कोयल का काला रंग, पुरुष की दाढ़ी-मूंछ और मादा स्तनधारी के स्तन इनके उदाहरण हैं। इन्हें गौण लैंगिक लक्षण कहते हैं।

प्रजनन की विविध विधियां

पानी में रहने वाले ऐसे जंतु, जिनकी शरीर रचना काफी सरल होती है, प्रायः अपने अंडाणुओं और शुक्राणुओं को पानी में छोड़ देते हैं।

नर और मादा मेंढक मैथुन की प्रक्रिया मे गुज़रते हुए। मादा को आकर्षित करने के लिए मौजूद स्वरकोष और मैथुन के दौरान मादा को पकड़कर रखने के लिए नर के अगले पंजे में बनी विशेष रचना – इन्हें आगे दिए चित्रों में दिखाया गया है।

चूंकि ये जंतु बड़ी संख्या में एक स्थान पर रहते हैं और प्रत्येक जंतु लाखों युग्मकों का निर्माण करता है, अनगिनत अंडाणु और शुक्राणु पानी में छोड़ दिए जाते हैं ताकि निषेचन सुनिश्चित हो सके। अंडाणुओं से निकलने वाले रसायन शुक्राणुओं को आकर्षित करते हैं और निषेचन की प्रक्रिया पानी में ही सम्पन्न हो जाती है। सहायक प्रजनन अंगों के रूप में इन जंतुओं को केवल एक ऐसी नलिका की आवश्यकता होती है जो युग्मकों को शरीर के बाहर निकाल सके। मादा की ऐसी नलिका को अंडवाहिनी और नर की नलिका को शुक्रवाहिनी कहते हैं।

भूमि पर रहने वाले जंतुओं में प्रजनन की प्रक्रिया इतनी आसान नहीं होती। युग्मकों को शरीर के बाहर नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि वे जल के सुरक्षात्मक आवरण के बिना जीवित नहीं रह सकते। इस समस्या से निपटने के लिए भूमिचर जंतु दो तरीके अपनाते हैं। मेंढक और उनके संबंधी जंतु (वर्ग एम्फिबिया) अधिकांश समय रहते तो ज़मीन पर हैं, किंतु प्रजनन के लिए पानी में चले जाते हैं और अपने युग्मकों को पानी में छोड़ देते हैं। इस प्रकार युग्मक सूखने से सुरक्षित रहते हैं और निषेचन तथा निषेचन के फलस्वरूप बनने वाले भ्रूण के विकास की प्रक्रियाएं पानी में हो जाती हैं।

अधिकांश भूमिचर जंतुओं ने प्रजनन का अधिक सुरक्षित तरीका अपनाया है। अंडाणु मादा के शरीर में ही रहते हैं और नर अपने शुक्राणु मादा के शरीर में पहुंचा देता है। निषेचन की प्रक्रिया मादा के शरीर के अंदर, अंडवाहिनी में होती है। कुछ जंतु अपने भ्रूणों को कड़े कवच में लपेट कर शरीर के बाहर निकाल देते हैं। इन जंतुओं की अंडवाहिनी में ऐसी ग्रंथियां पाई जाती हैं जो अंडे के कवच का निर्माण करती हैं।

अन्य जंतुओं में मादा भ्रूण को अपने शरीर में तब तक रखे रहती है जब तक उसका विकास पूरा नहीं हो जाता। यह विकास गर्भाशय नाम के अंग में होता है।

अंडवाहिनी के साथ जुड़ी ग्रंथियां, गर्भाशय और उसके साथ जुड़ी ग्रंथियां, तथा अंडाशय को छोड़कर प्रजनन तंत्र के अन्य अंग मादा के सहायक प्रजनन अंग हैं।

नर जंतु के सहायक प्रजनन अंगों में शुक्रवाहिनी के अतिरिक्त ऐसे अंग शामिल होते हैं जो शुक्राणुओं को संचित करने के या शुक्राणुओं को मादा के शरीर में पहुंचाने के काम आते हैं। मादा के शरीर में शुक्राणुओं को पहुंचाने की क्रिया को मैथुन कहते हैं और कई जंतुओं में ऐसे अंगों का विकास होता है जो मैथुन के दौरान मादा को थामे रखने का काम करते हैं।

अरीढ़धारियों में लैंगिक द्विरूपता

जंतु जगत पर नज़र डाली जाए तो लैंगिक प्रजनन करने वाले सभी समूहों में लैंगिक द्विरूपता किसी-न-किसी रूप में दिखाई देती है। कहीं-कहीं तो इसका काफी रोचक स्वरूप नज़र आता है।

केंचुए का बहुत दूर का संबंधी बोनेलिया (फायलम एकियुरा) नामक जंतु गहरे समुद्र में कीचड़ में धंसा रहता है। स्थिर प्रकृति के इस जंतु में नर और मादा के मिलने के लिए एक रोचक व्यवस्था की गई है।

बोनेलिया का लार्वा स्वतंत्र रूप से समुद्र में तैरता रहता है और इस समय इसका लिंग निर्धारित नहीं होता। वयस्क बनने से पहले लार्वा समुद्र के तल की ओर बढ़ता है। यदि वह तल तक पहुंच जाए तो वह मादा बन जाता है; किंतु लार्वा यदि किसी मादा की फैली हुई भुजाओं पर गिर जाए तो वह नर बन जाता है और मादा के शरीर पर स्थाई रूप से परजीवी के रूप में रहता है।

मादा बोनेलिया को अपने जीवनसाथी को परजीवी के रूप में हमेशा ढोने का कठिन काम करना पड़ता है, किंतु इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रजनन के समय उसके
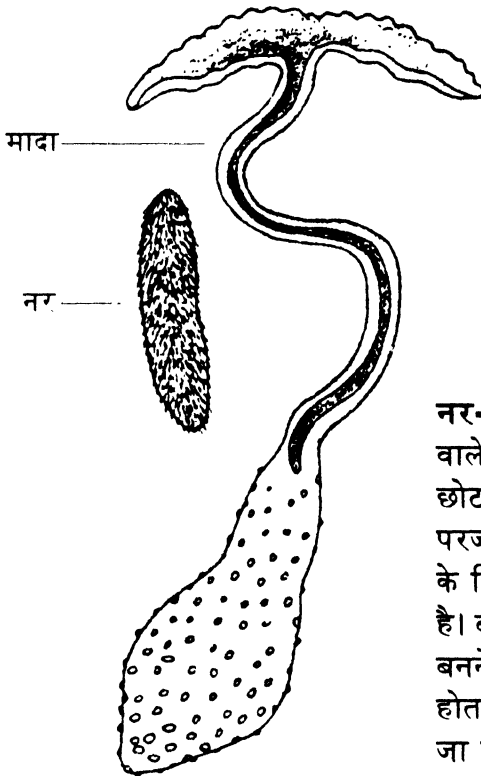
नर-मादा बोनेलिया: समुद्र में रहने वाले बोनेलिया का नर आकार में छोटा होने के साथ-साथ पूरी तरह परजीवी होता है। इसे अपनी ज़रूरतों के लिए मादा पर आश्रित होना पड़ता है। बोनेलिया लार्वा के नर या मादा बनने का फैसला ही इस बात से तय होता है कि वह मादा की भुजाओं में जा गिरता है या समुद्र की तली पर।

अंडाणुओं को निषेचित करने के लिए शुक्राणु मिल ही जाएंगे।

जोड़ीदार टांगों वाले जंतु (फायलम आर्थ्रोपोड़ा) संसार में बहुत अधिक संख्या में और बड़ी विविधता में पाए जाते हैं। इनके विभिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न प्रकार की लैंगिक द्विरूपता पाई जाती है। केकड़ों में प्रायः नर की अगली टांगें मादा की अगली टांगों की तुलना में अधिक बड़ी होती हैं। इनका उपयोग मैथुन के समय मादा को थामने और शुक्राणुओं को उसके शरीर में स्थानांतरित करने के लिए किया जाता है।

कीट वर्ग (इनसेक्टा) में नर और मादा के उदर के पिछले भाग में प्रजनन से संबंधित अलग-अलग अंग पाए जाते हैं, और इनके कारण बाहर से देखकर नर और मादा की पहचान करना संभव हो जाता है। कुछ कीटों में लैंगिक द्विरूपता का एक अतिरिक्त कारण होता है। इन प्रजातियों के नर, मादा को आकर्षित करने के लिए तेज़ आवाज़ पैदा करते हैं। किंतु रोचक बात यह है कि यह आवाज़ मुंह या गले से नहीं निकलती। नर के पंख या टांग पर ऐसी रचना होती है जिसे शरीर पर रगड़ने पर आवाज़ पैदा होती है, अतः इसे 'घर्षण नाद' कहते हैं। चूंकि मादा में यह अंग नहीं होता, नर को आसानी से पहचाना जा सकता है।

आर्थ्रोपोड़ा समूह में ही सम्मिलित मकड़ियों में लैंगिक द्विरूपता मुख्य रूप से नर और मादा के बीच आकार के अंतर में होती है। कुछ प्रजातियों में मादा मकड़ी नर से काफी बड़ी होती है। उसे मैथुन के लिए प्रेरित करने के लिए नर उसके सामने नृत्य करता है। इसके फलस्वरूप वह नर को अपने पास तो आने देती है, किंतु मैथुन के तुरंत बाद यदि नर फुर्ती दिखा कर भाग न जाए तो वह उसे खा भी जाती है।

सीप और घोंघों में बाहर से देखकर नर और मादा में अंतर कर पाना कठिन होता है, किंतु इसी समूह फायलम मॉलस्का में सम्मिलित समुद्री जंतु ऑक्टोपस में स्पष्ट रूप से लैंगिक द्विरूपता पाई जाती है। नर और मादा दोनों की आठ-आठ भुजाएं होती हैं, किंतु नर की एक भुजा का अगला सिरा चौड़ा हो जाता है और इसका उपयोग मैथुन के समय मादा के शरीर में शुक्राणु पहुंचाने के लिए किया जाता है। विशेष कार्य के लिए परिवर्तित इस भुजा को हेक्टोकोटाइलस कहते हैं।

अब तक हम बिना रीढ़ की हड्डी वाले जंतुओं में लैंगिक द्विरूपता के कुछ उदाहरण देख चुके हैं। रीढ़ की हड्डी वाले जंतुओं में भी इसी प्रकार की विविधता पाई जाती है।
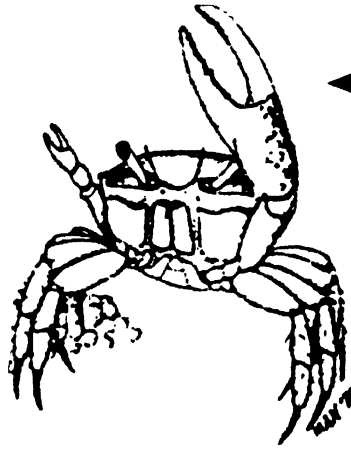
◄ **नर-मादा फिडलर केकड़ा:** दोनों की तुलना करें तो नर केकड़े की अगली टांग बड़ी होती है। इन टांगों का इस्तेमाल नर जनन के दौरान मादा को थामे रखने के लिए करता है।

कीट वर्ग के नर-मादा: – कीट वर्ग में नर और मादा की पहचान उनके पेट के पिछले हिस्से में दिखाई देने वाले जनन अंगों की मदद से हो जाती है।
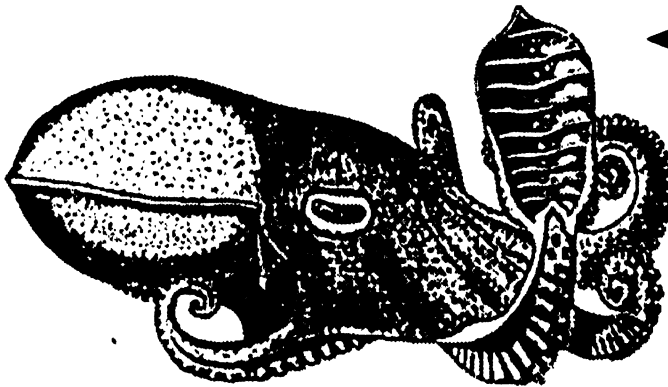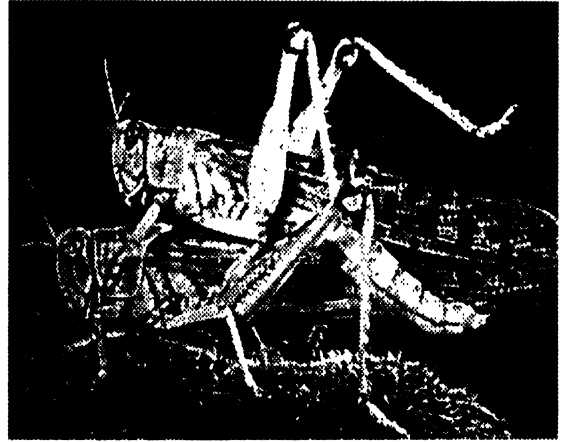
◄ **नर ऑक्टोपस:** यूं तो नर और मादा ऑक्टोपस दोनों में ही आठ-आठ भुजाएं होती हैं लेकिन नर ऑक्टोपस की आठ भुजाओं में से एक भुजा का अगला सिरा काफी चौड़ा होता है।इसका उपयोग मैथुन के समय मादा के शरीर में शुक्राणु पहुंचाने के लिए किया जाता है।
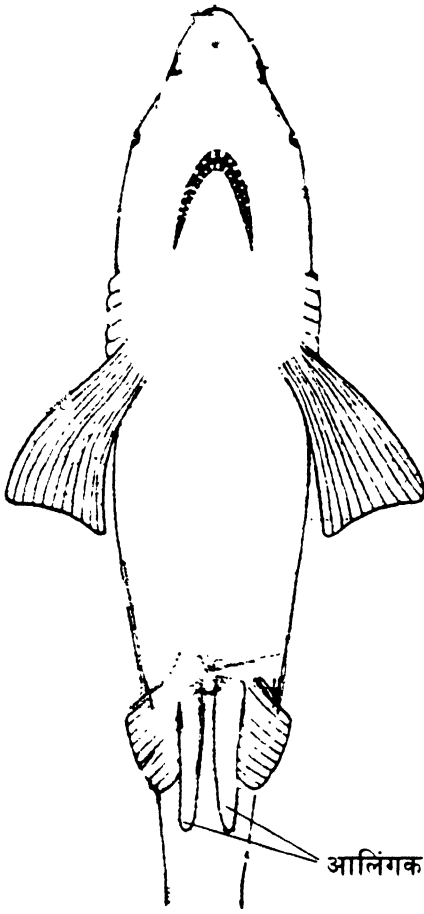
नर शार्क के आलिंगक: नर शार्क के शरीर की निचली सतह पर छड़नुमा विशेष रचना होती है जिसे आलिंगक कहा जाता है। मादा के शरीर पर यह रचना नहीं होती।

रीढधारियों में लैंगिक द्विरूपता

मछलियां प्रायः अपने युग्मकों को पानी में छोड़ देती हैं और निषेचन भी मादा के शरीर के बाहर ही होता है। इसके कुछ अपवाद भी होते हैं। शार्क मछलियों और उनके संबंधियों में शरीर की निचली सतह पर छड़ के समान दो आलिंगक होते हैं जिनका उपयोग मैथुन के समय मादा को थामने और शुक्राणुओं को उसके शरीर में पहुंचाने के लिए किया जाता है।

घोड़े के समान मुंह होने के कारण एक मछली का नाम समुद्री घोड़ा (सी हॉर्स) पड़ा है। इस मछली में लैंगिक द्विरूपता का एक रोचक स्वरूप पाया जाता है। नर के पेट पर एक थैली होती है जिसमें मादा अपने अंडे छोड़ देती है। ये अंडे और इनसे निकलने वाले बच्चे पिता की इस जेबनुमा थैली में सुरक्षित रहते हैं। बच्चे कुछ बड़े होने पर थैली से बाहर आकर पानी में तैरते रहते हैं, किंतु खतरे की आहट पाते ही वापस थैली में चले जाते हैं।

बोनेलिया के समान व्यवस्था गहरे समुद्र में रहने वाली कुछ मछलियों में भी पाई जाती है। ये मछलियां गहरे समुद्र में ऐसे स्थान पर रहती हैं जहां सूर्य का प्रकाश कभी पहुंचता ही नहीं है। ऐसी गहराइयों में नर और मादा का एक-दूसरे को ढूंढ पाना लगभग असंभव होता है। अतः नर चाहे प्रजनन के लिए परिपक्व हो या न हो, संयोग से मिलने वाली किसी भी मादा के शरीर पर चिपक जाता है और जीवन भर उस पर परजीवी के रूप में रहता है।

उभयचर वर्ग एम्फिबिया का सबसे परिचित जंतु मेंढक है। पानी और ज़मीन दोनों स्थानों पर रह सकने के कारण इन्हें उभयचर कहते हैं। प्रजनन
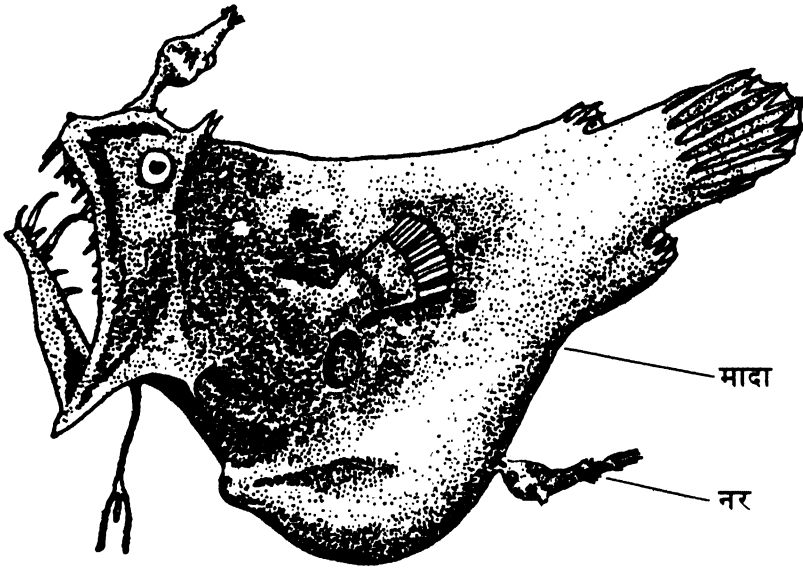
लिनोफ्रिन नर-मादा: गहरे समुद्र में रहने वाली लिनोफ्रिन मछलियों के साथ समस्या यह है कि नर या मादा को ढूंढ पाना टेढ़ीखीर है। इसलिए जैसे ही किसी नर को मादा दिख जाती है वह तुरंत उसके शरीर से चिपक जाता है और सारी उम्र परजीवी बना मादा के शरीर पर निवास करता है। नर को अपने शरीर से चिपकाए घूमने में मादा की समस्या भी हल हो जाती है, जब भी प्रजनन का समय आता है उसके पास नर लिनोफ्रिन उपलब्ध होता है।

काल में मादा को आकर्षित करने के लिए नर मेंढक टर्राते हैं। टर्राने की आवाज़ पैदा करने के लिए नर मेंढक के गले में दो थैलीनुमा रचनाएं या स्वरकोश होते हैं। इसी प्रकार, मैथुन के समय मादा को मजबूती से पकड़ने के लिए नर की अगली टांगों की एक उंगली फूली रहती है।

सांप, कछुए, मगर, छिपकलियां, आदि जंतु सरीसृप वर्ग (रेप्टीलिया) कहलाते हैं। इनमें आमतौर पर लैंगिक द्विरूपता नहीं पाई जाती है। अतः नाग और नागिन को पहचान पाने के सपेरों के दावे को शक की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। कई सपेरे तो धामिन सांप (जो सांपों की एक अलग प्रजाति है) को ही नागिन कह देते हैं। यह बात ज़रूर है कि नर सांप के जनन छिद्र के आसपास उंगलियों से दबाव डालने पर उसके दो अर्ध-शिश्न (हेमिपेनिस) दिखाई देते हैं। किंतु दूर से देखकर नर और मादा में अंतर कर पाना संभव नहीं होता।

पक्षियों में लैंगिक द्विरूपता के बारे में पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकांश पक्षियों के शरीर विविध रंगों से सजे रहते हैं जिसके कारण

लैंगिक द्विरूपता में बहुत अधिक विविधता पाई जाती है। दूसरे, अधिकांश पक्षी दिनचर होते हैं और उड़ने के स्वभाव के कारण इन्हें सरलता से देखा जा सकता है। मोटे अनुमान से कहा जा सकता है कि पक्षियों की लगभग आधी प्रजातियों में लैंगिक द्विरूपता होती है और शेष में नर और मादा एक समान दिखते हैं।

पक्षियों की जिन प्रजातियों में लैंगिक द्विरूपता होती है उनमें आमतौर पर नर का रंग चटख और आसानी से दिखाई पड़ने वाला होता है, या पूंछ या सिर पर बड़े पिच्छ होते हैं, या सिर पर कलगी होती है। इस सारी सजावट का उद्देश्य मादा को आकर्षित करना होता है। इसके विपरीत, मादा का रंग मटमैला और परिवेश से मिलता-जुलता होता है ताकि उसे आसानी से न देखा जा सके। अंडों पर बैठ कर उन्हें सेती हुई, बच्चों की देखभाल करती हुई मादा को आक्रमणकारी जंतु आसानी से शिकार बना सकते हैं। अतः छुपाने वाला रंगरूप ही उसके हित में होता है। पक्षियों की जिन प्रजातियों के रंग भड़कीले नहीं होते या बड़े पिच्छों या कलगियों जैसी सजावट के अंग नहीं होते, उन्हें प्रायः सुरीले स्वर की देन होती है; ताकि वे गायन के द्वारा मादा को आकर्षित कर सकें।

कुछ नर पक्षी मादा को रिझाने के लिए नाचते या अन्य हावभाव करते हैं। इसका सबसे परिचित उदाहरण कबूतर है। प्रजनन काल में नर कबूतर अपने गले के पिच्छ फुलाकर मादा के सामने नृत्य करता है। ऐसे पक्षियों की मादाएं प्रायः अधिक संकोची और शर्मिली होती हैं।

लैंगिक द्विरूपता के अभाव में होने वाली कठिनाई का बहुत रोचक उदाहरण पेंगुइन नामक पक्षी में पाया जाता है जो दक्षिण ध्रुवीय प्रदेशों में हज़ारों के झुंडों में रहते हैं। लैंगिक द्विरूपता न होने के कारण वे आपस में भी नहीं पहचान सकते कि कौन नर है और कौन मादा। नर पेंगुइन कर्कश आवाज़ निकाल सकता है किन्तु वह न गा सकता है, न नाच सकता है। कर्कश आवाज़ मादा भी निकालती है। ऐसे में जब किसी नर पेंगुइन को घर बसाने की इच्छा होती है तब वह एक कंकड़ चोंच में उठा कर चल पड़ता है और अपने झुंड के दूसरे पेंगुइन को देने की पेशकश करता है। यदि दूसरा पेंगुइन लड़ने पर उतारू हो जाए तो पहला पेंगुइन समझ जाता है कि उसने भयंकर भूल कर दी है और दूसरे नर के सामने प्रेम प्रस्ताव रख दिया है। यदि दूसरा पेंगुइन उसे दिए जा रहे कंकड़ को पूरी तरह अनदेखा कर दे तो पहला पेंगुइन समझ जाता है कि

उसने ऐसी मादा से संपर्क किया है जो या तो प्रजनन के लिए तैयार नहीं है या किसी अन्य नर की हो चुकी है। यदि दूसरा पेंगुइन ऐसी मादा हो जो पहले पेंगुइन का प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए तैयार है तो वह कंकड़ को अपनी चोंच में उठा लेती है और दोनों मिलकर परिवार बनाने की प्रक्रिया शुरू कर देते हैं।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बाह्य जननांगों और स्तनों के कारण स्तनधारी जंतुओं में लैंगिक द्विरूपता होती ही है। कुछ प्रजातियों में लैंगिक द्विरूपता के अन्य लक्षण भी होते हैं। पुरुष के चेहरे पर दाढ़ी-मूंछ होती है और उसकी आवाज़ मोटी होती है, जबकि स्त्रियों में ये दोनों लक्षण नहीं होते। नर सिंह (बब्बर शेर) के सिर और गर्दन पर लंबे बाल होते हैं जो मादा में नहीं पाए जाते। नर नीलगाय का रंग मादा की तुलना में बहुत अधिक गहरा होता है, उसके सिर पर दो सींग पाए जाते हैं और गले पर दाढ़ी के समान बालों का गुच्छा होता है। मादा का रंग हल्का कत्थई होता है और उसके सिर पर न सींग होते हैं, न गले पर बालों का गुच्छा।
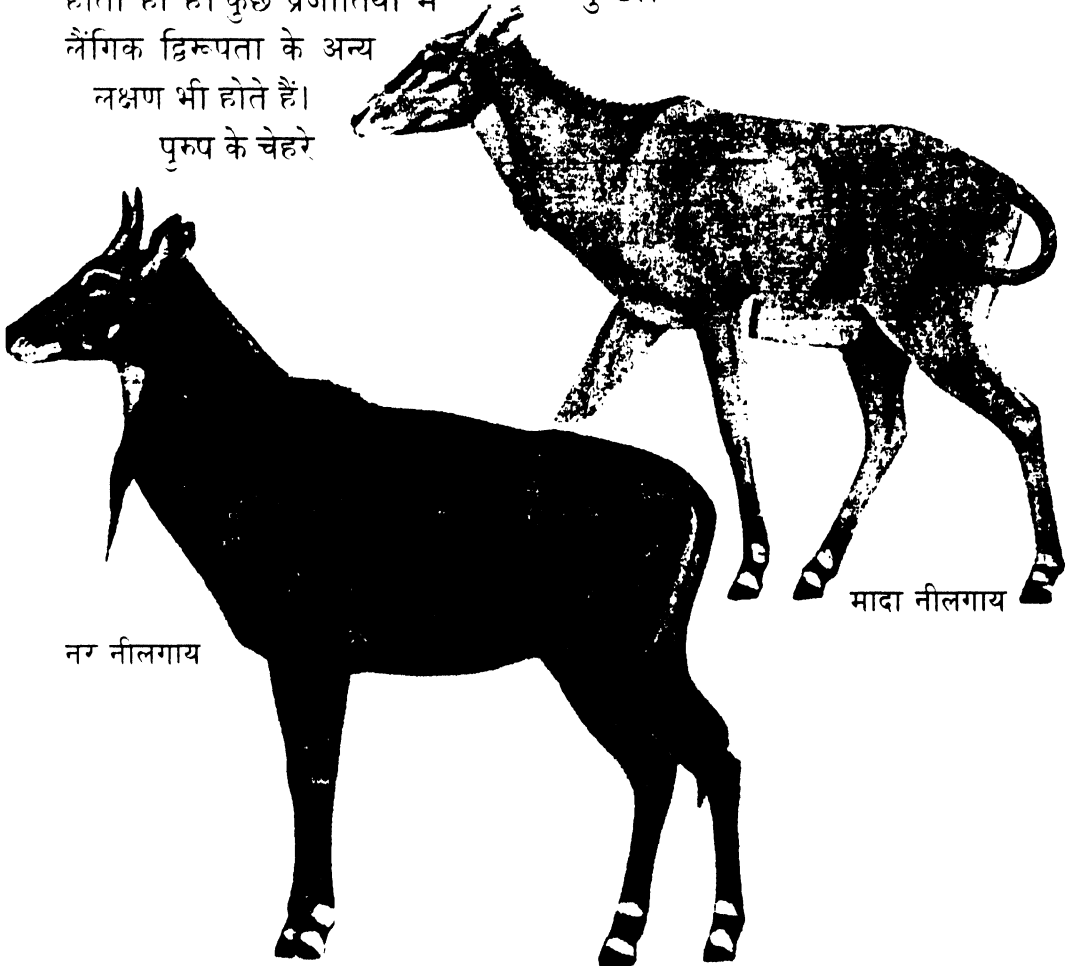
5. शुक्राणुओं की मादा के शरीर में पहुंचाना – प्रजनन की प्रक्रिया में यह बड़ी महत्वपूर्ण कड़ी होती है क्योंकि शुक्राणु इतने नाजुक और संवेदनशील होते हैं कि उन्हें नर के शरीर से मादा के शरीर में पहुंचाना एक चुनौती पूर्ण काम होता है।

इस काम को पूरा करने के लिए विभिन्न समूहों के नर जंतुओं में विशिष्ट अंगों का विकास हुआ है और इनकी सहायता से नर को पहचाना भी जा सकता है। नर ऑक्टोपस का हेक्टोकोटाइलस, नर शार्क का आलिंगक और नर स्तनधारी का शिश्न ऐसे अंगों के उदाहरण हैं।

6. बच्चों की सुरक्षा और उनका पोषण – समुद्री घोड़े का भ्रूणकोष बच्चों को सुरक्षित रखने के लिए बनी संरचना है। आत्मनिर्भर होने तक बच्चे भ्रूणकोष में रहते हैं। इसके विपरीत, मादा स्तनधारी की स्तनग्रंथियां विशुद्ध रूप से शिशु के पोषण के लिए होती हैं। इस प्रकार के अंगों का प्रजनन की प्रक्रिया से सीधा संबंध न भी हो तो भी इनके कारण लैंगिक द्विरूपता तो होती ही है।

7. अन्य कारण – इन सबके अलावा लैंगिक द्विरूपता के और भी कई कारण हो सकते हैं। कई बार ऐसा होता है कि अगर शरीर के किसी अंग में कुछ बदलाव हो रहे हों तो उस वजह से साथ-साथ कुछ अन्य अंगों में भी परिवर्तन होने लगते हैं।

मान लीजिए किसी प्रजाति के नर में कुछ अंदरूनी परिवर्तन हो रहे हैं। संभव है कि अंदरूनी अंगों में हो रहे इन बदलावों के कारण बाहरी स्वरूप पर भी प्रभाव पड़ रहा हो और उस में भी परिवर्तन होने लगे। ये परिवर्तन एक तरह से अकारण ही हैं। इनके बारे में जानना इसलिए भी ज़रूरी है कि कहीं यह बात दिमाग में न बैठ जाए कि किसी भी प्रजाति में होने वाले सब परिवर्तनों के पीछे कुछ न कुछ कारण होता ही है। यानी कि यह ज़रूरी नहीं है कि हर प्रजाति में पाई जाने वाली लैंगिक द्विरूपता का कोई न कोई कारण हो ही।

अरविंद गुप्ते: प्राणी शास्त्र के पूर्व प्राध्यापक। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े हैं।

चंद्रशेखर वेंकट रामन
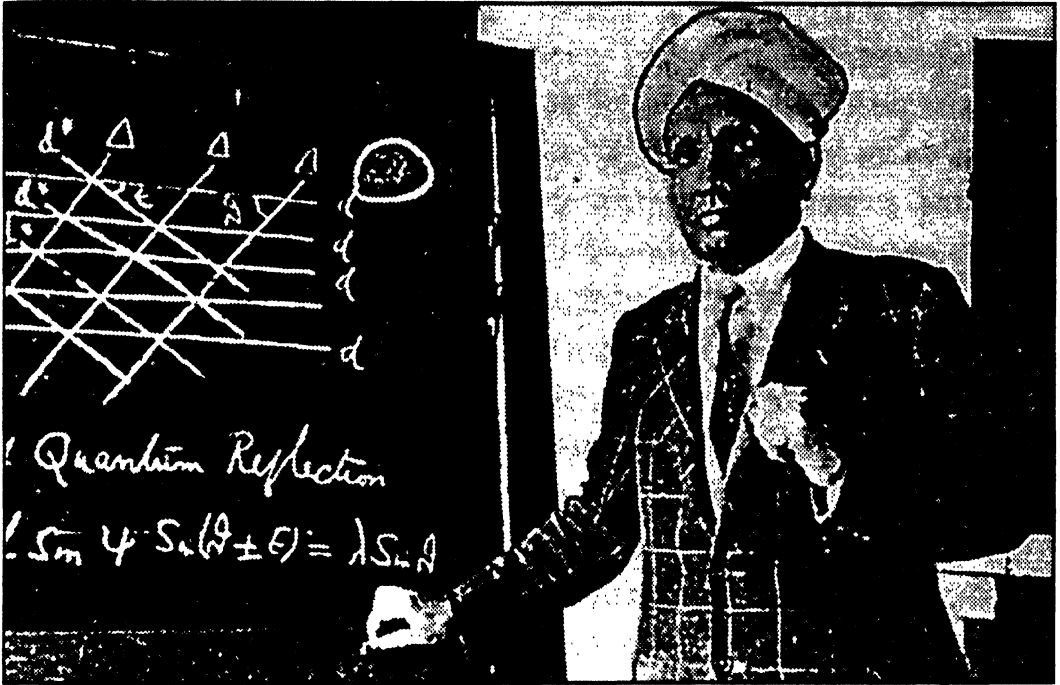
जहां तक पदार्थ की परमाण्विक संरचना का मामला है, सन् 1919 में लॉर्ड रदरफोर्ड के प्रयोगों के बाद से स्थिति अब तक काफी स्पष्ट हो चली है। पदार्थ की मूलभूत संरचना को हम काफी हद तक समझने लगे हैं। लगभग सारे रसायन शास्त्र और भौतिक शास्त्र की नींव परमाण्विक संरचना की हमारी इसी समझ पर रखी हुई है।

प्रकाश का अवशोषण और उत्सर्जन

लेकिन प्रकाश के मामले में स्थिति काफी जटिल है। प्रकाश एक गतिमान विद्युत-चुंबकीय ऊर्जा है यानी इसके

विद्युतीय तथा चुंबकीय, दोनों क्षेत्र होते हैं। इन दोनों क्षेत्रों की तीव्रता या प्रबलता तरंग के समान हर बिंदु पर बदलती है। यह विद्युत-चुंबकीय ऊर्जा किसी भी पदार्थ द्वारा आंशिक या पूर्ण रूप से अवशोषित की जा सकती है। अवशोषक पदार्थ के परमाणु इसे फिर से आंशिक या पूर्णरूपेण बाहर निकाल सकते हैं। प्रकाश विकिरण की ऊर्जा का यह अवशोषण और उत्सर्जन परमाणु के इलेक्ट्रॉनों के माध्यम से होता है। लेकिन यह एक सतत प्रक्रिया न होकर क्वांटा या पैकेटों में होती है जिन्हें फोटॉन कहते हैं। हर पैकेट की ऊर्जा उस विकिरण की आवृत्ति पर निर्भर करती है। परंतु इस समझ तक पहुंचने तक एक लंबा समय लगा।

गौर कीजिए कि एक अतिशुद्ध पारदर्शी माध्यम में से एक ही आवृत्ति का प्रकाश गुज़ारा जाए तो क्या होगा? ऐसे में अधिकांश प्रकाश तो उस माध्यम को पार कर जाएगा लेकिन उसका कुछ अंश मार्ग में आने वाले अणुओं व परमाणुओं द्वारा विभिन्न दिशाओं में छितरा दिया जाएगा। उन्नीसवीं शताब्दी में लॉर्ड रैले ने कुछ तरल पदार्थों में प्रकाश के इस छितराव (Scattering) का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि आपतित प्रकाश का तकरीबन एक हज़ारवां हिस्सा छितर जाता है। इस छितराए हुए प्रकाश की तरंग-लंबाई आपतित प्रकाश की तरंग लंबाई जितनी ही होती है।

सन् 1878 में एक जर्मन वैज्ञानिक लोमेल सैद्धांतिक तौर पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि छितराए हुए प्रकाश में एक ऐसा भी हिस्सा होगा जिसकी आवृत्ति, आपतित प्रकाश की आवृत्ति और छितराने वाले माध्यम के आंतरिक दोलनों की आवृत्ति की संयोजी होगी। पर उसके इस निष्कर्ष पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सन् 1923 में एक अन्य जर्मन स्मेकल और 1925 में क्रेमर्स तथा हाइज़नबर्ग ने भी इसी तरह की सैद्धांतिक भविष्यवाणी की कि बिखरने वाले प्रकाश में आपतित प्रकाश की आवृत्ति के अलावा और भी कई आवृत्तियों के प्रकाश मौजूद होंगे। ये आवृत्तियां उस छितराने वाले माध्यम की संरचना पर निर्भर करेंगी। 1927 में डिराक भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे। यानी परिणामी आवृत्ति, आंतरिक और आपतित आवृत्तियों दोनों के या तो योग के बराबर होंगी या इनके अंतर जितनी। इसके बाद तो प्रकाश प्रकीर्णन के दौरान उत्पन्न होने वाली संयोजी आवृत्तियों की खोज ज़ोरों से शुरू हुई। रामन भी इन कामों से अच्छी तरह वाकिफ थे।

रामन का शुरुआती काम

प्रकाश के छितराव की व्याख्या रामन के अध्ययन का केंद्र सन् 1921 से ही बन चुकी थी। इसी साल समुद्र

के नीले रंग और द्रवों में प्रकाश के बिखराव पर उनका एक पर्चा लंदन की प्रसिद्ध रॉयल सोसाइटी तथा बाद में कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ। दो पर्चे नेचर पत्रिका में भी छपे। अपने प्रयोगों के दौरान उन्होंने ऐसा छितराव पाया जो रैले छितराव से भिन्न था। उनके इन प्रयोगों की परिणिति आगे चलकर सन् 1928 में 'रामन-प्रभाव' में हुई, जिस पर उन्हें 1930 का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला।

'रामन प्रभाव' के अनुसार जब एक ही आवृत्ति का प्रकाश किसी भी पारदर्शी रासायनिक यौगिक में छितराया जाता है तब प्रकाश के कुछ अंशों की तरंग-लंबाई आपतित प्रकाश की तरंग-लंबाई से भिन्न होती है। रामन छितराव को समझने के लिए हमें प्रकाश को कणों (फोटॉन) के रूप में देखना होगा जिनकी निहित ऊर्जा उनकी आवृत्ति के अनुपाती है। जब ये फोटॉन यौगिक के परमाणुओं से टकराते हैं तब अधिकांश फोटॉन अपने प्रारंभिक रूप में ही बिखर जाते हैं। परंतु कुछ स्थितियों में वे परमाणुओं से थोड़ी ऊर्जा प्राप्त करते हैं और कुछ में वे परमाणुओं को ऊर्जा प्रदान करते हैं। इसलिए इन छितराए हुए फोटॉनों की ऊर्जा-स्थिति में परिवर्तन आ जाता है जिसके फलस्वरूप उनकी आवृत्ति भी बदल जाती है। इन बदली हुई आवृत्तियों के मापन से हम ऊर्जा के आदान-प्रदान की मात्रा का अंदाज़ भी लगा सकते हैं।

रामन का जन्म 7 नवंबर 1888 को दक्षिण भारत के तिरुचिरापल्ली ज़िले के उत्तर में तिरुवनैकावल नामक एक छोटे से गांव में हुआ। उन्हीं दिनों सन् 1857 की क्रांति के बाद राष्ट्रवादी आंदोलन फिर से करवटें लेने लगा था। उस समय पैदा हुए रामन आगे चलकर वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में भारतीय निश्चयात्मकता और स्वावलंबन की एक शानदान मिसाल बने।

रामन के जन्म के तकरीबन चार वर्ष बाद उनका परिवार विशाखापटनम चला गया, और वहां समुद्र तट के निकट रहने लगा। रामन के पिता, चंद्रशेखरन अय्यर की संगीत में, विशेषकर वीणा और वायलिन जैसे वाद्यों में, काफी रुचि थी। संगीत के साथ उन्हें भौतिकी, गणित और अंग्रेज़ी साहित्य से भी विशेष लगाव था। उन्होंने इन विषयों की कई उच्चस्तरीय किताबें भी इकट्ठी की हुई थीं, जिनका वे नियमित अध्ययन करते थे।

इस माहौल का रामन के ऊपर काफी प्रभाव पड़ा और आगे चलकर उनका बहुत सारा वैज्ञानिक काय प्रकृति की परिघटनाओं और वाद्यों की ध्वनिकी (Accoustics) पर केन्द्रित रहा। ग्यारह साल की छोटी-सी उम्र में ही उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की।

जनवरी 1903 में रामन ने मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज में बी. ए. में दाखिला लिया। उन्होंने अपना मुख्य विषय चुना, भौतिकी। रामन ने यहां कुल चार साल बिताए। विज्ञान के अलावा अंग्रेज़ी साहित्य पर भी उनकी पकड़ काफी गहरी थी। 1904 में अंग्रेज़ी व भौतिकी में स्वर्णपदक के साथ बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने पर उन्हें इंग्लैंड जाकर पढ़ाई जारी रखने की सलाह दी गई। लेकिन स्वास्थ्य की दृष्टि से अयोग्य करार दिए जाने पर वे इंग्लैंड न जा सके। फलस्वरूप रामन ने प्रेसिडेंसी कॉलेज से ही भौतिकी में एम. ए. करने का निश्चय किया। वहां मिली शैक्षिक स्वतंत्रता का उन्होंने भरपूर फायदा उठाया – अपनी खोजी प्रवृत्तियों को ठोस प्रायोगिक रूप देने में। उन दिनों महाविद्यालयों में किसी भी तरह के अनुसंधान की परंपरा न थी। स्थिति शायद आज भी कुछ खास नहीं बदली। लेकिन महत्वाकांक्षा, साहस और उद्यम के धनी रामन अपने प्रयोगमूलक वैज्ञानिक कार्यों में भिड़े रहे।

तभी तो रामन को नोबेल पुरस्कार मिलने पर कुछ यूरोपीय वैज्ञानिकों के बीच जब विवाद छिड़ा तो उनके समकालीन मेघनाद साहा ने कहा था, "यूरोपीय लेखक हमेशा यह कहते नहीं थकते कि हम भारतीयों का झुकाव व्यावहारिक दृष्टिकोण के बजाए तात्विक व्याख्याओं की ओर अधिक रहता है। जबकि यहां (रामन के मामले में) इसके ठीक विपरीत ही हुआ है। एक भारतीय द्वारा यूरोपीय विद्वानों की उन कल्पनाओं को प्रायोगिक स्वरूप दिया गया है जिन्हें वे स्वयं भी सत्यापित न कर सके।"

सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने कॉलेज के स्पेक्ट्रोमीटर से प्रिज़्म के एक कोण को नापने का प्रयोग किया। प्रयोग के दौरान उन्होंने कोण पर आपतित प्रकाश के प्रतिबिंब का अवलोकन किया। उन्होंने देखा कि प्रतिबिंबित प्रकाश थोड़ा बहुत फैल जाता है। फैलाव या विसरण की पट्टियों की जांच-पड़ताल करके रामन ने इनका वह कारण खोज लिया जो उस समय के वैज्ञानिक साहित्य में कहीं भी मौजूद नहीं था। इस पर उन्होंने एक पर्चा लिखा और लंदन की 'द फिलॉसॉफिकल मैगज़ीन' में छपने के लिए भेज दिया। दिलचस्प बात यह है कि उन्होंने इस लेख को तैयार करने के दौरान किसी से भी कोई सहायता नहीं ली। उन दिनों रामन का प्रसिद्ध गणितज्ञ और भौतिकविद लॉर्ड रैले से भी पत्र-व्यवहार चला। लॉर्ड रैले का ख्याल था कि रामन प्रेसिडेंसी कॉलेज में प्रोफेसर हैं। वे अपने पत्रों में रामन को ऐसे ही संबोधित करते थे। जनवरी 1907 में 18 वर्ष की आयु में रामन एम. ए. की परीक्षा में

सवप्रथम आए।

रामन को प्रकृति में बसे रंगों, आकारों और उनकी लय ने काफी प्रभावित किया। अपने अध्ययन हेतु उन्होंने तितलियों के हज़ारों नमूने एकत्र किए। इसके अलावा उन्होंने विभिन्न आकृतियों के सैंकड़ों हीरे भी इकट्ठे किए। वे इन हीरों के भौतिक गुणों के सम्मोहन में ऐसे बंधे कि एक समय तो उनकी प्रयोगशाला का हर शोधकर्ता इनके अध्ययन में जुटा था। इसके अलावा रामन ने फूलों, पत्तियों और मणियों के रंगों पर भी विस्तारपूर्वक लिखा। बाद में उन्होंने समुद्र के गहरे नीले रंग की बेहतर विज्ञान सम्मत व्याख्या प्रस्तुत कर इस संबंध में उस समय तक मान्य लॉर्ड रैले के विचारों का खंडन किय। रैले का मानना था कि समुद्र का गहरा नीला रंग आकाश के नीले रंग के कारण है, लेकिन रामन ने इस परिघटना के लिए प्रकाश के आण्विक बिखराव को ज़िम्मेदार ठहराते हुए 'रामन-प्रभाव' की नींव डाली।

कलकत्ता में शोधकार्य

सन् 1907 में रामन वित्त लोक सेवा परीक्षा में बैठे। नियुक्ति की प्रतीक्षा के दौरान रामन ने लोकसुंदरी अम्माल से विवाह करने का निश्चय किया। उसी साल रामन सपत्नीक कलकत्ता चले गए, जहां उन्होंने सह-लेखापाल की हैसियत से वित्त विभाग में काम शुरू किया। हालांकि अगले दस वर्षों तक वे वित्त विभाग की अपनी नौकरी में पूरी तरह से मशगूल रहे, फिर भी कॉलेज के दिनों में शुरू किए गए अपने अनुसंधानों को आगे बढ़ाने के मौकों की तलाश में वे बराबर लगे रहे। उन्होंने बो बाज़ार स्थित द इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस (आई. ए. सी. एस.) को ढूंढ निकाला। यह एसोसिएशन सन् 1876 में महेंद्रलाल सरकार द्वारा स्थापित किया गया था। डॉ. सरकार का सपना था कि एक ऐसी संस्था हो जहां भारतीय वैज्ञानिक बगैर किसी बाहरी हस्तक्षेप के निर्बाध रूप से अपने अनुसंधान जारी रख सकें। एसोसिएशन का विज्ञानमय वातावरण रामन को काफी भाया और 1933 तक वे किसी न किसी रूप में इससे जुड़े रहे।

इस दौरान उनके कई पर्चे संस्थान के बुलेटिन और विदेशी पत्रिकाओं में छपे। संगीत वाद्यों और प्रकाशिकी पर उनके काम ने उन्हें विश्वव्यापी ख्याति दिलाई। उन्होंने धनुर्वाद्यों तथा पटवाद्यों की कार्यप्रणाली समझने में अपना योगदान दिया। यदि किसी धनुर्वाद्य के गज को फेरा जाए या उसके तार को कर्षित किया जाए या किसी पटवाद्य को पीटा जाए तो मूल आवृत्ति वाले स्वर के अलावा उच्च आवृत्ति वाले स्वर भी निकलते हैं। यदि ये उच्च आवृत्तियां मूल आवृत्ति के मुकाबले

दुगनी-तिगुनी 'इत्यादि हों यानी ऐसे ही अनुपात में बढ़ें तो निकलने वाले अधिस्वरक मधुर होंगे वर्ना शोर मचेगा। हालांकि यह एक विज्ञान सम्मत धारणा है कि जितने भी पटवाद्य हैं वे केवल शोर ही पैदा कर सकते हैं। लेकिन रामन ने पाया कि भारतीय पटवाद्य एकदम भिन्न श्रेणी के हैं और वास्तव में वे भी मधुर उच्च आवृत्ति वाले अधिस्वरक उत्पन्न करते हैं।

इसी तरह उन्होंने वीणा और तानपुरे जैसे प्रसिद्ध भारतीय वाद्य से निकलने वाले स्वरों का भी अध्ययन किया। इन वाद्यों के स्वर मनुष्य की आवाज़ से काफी मिलते-जुलते हैं। उनके स्वरों की गुणता अन्य कर्षित तारवाद्यों के स्वरों की गुणता के मुकाबले काफी उच्च स्तर की होती है। रामन ने एक बहुत ही दिलचस्प खोज की कि इन वाद्यों से ऐसे अधिस्वरक भी निकलते हैं जो ध्वनिकी सिद्धांतों के अनुसार निकलने ही नहीं चाहिए। रामन ने प्रमाणित किया कि इन वाद्यों में प्रयुक्त घुड़च के कारण निकलने वाली ध्वनियां गुणता के हिसाब से काफी संपन्न होती हैं।

इसके बाद रामन के जीवन में एक महत्वपूर्ण और सुखद मोड़ आया। सन् 1914 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन उप-कुलपति आशुतोष मुखर्जी द्वारा उन्हें पालित प्रोफेसर बनने का प्रस्ताव दिया गया, जो रामन ने 1917 में स्वीकार किया। इसके लिए रामन ने वित्त विभाग की अपनी बढ़िया नौकरी भी त्यागना सहर्ष कबूल किया। वे अब वैज्ञानिक अनुसंधान में पूरी तरह से जुट गए। विश्वविद्यालय और एसोसिएशन दोनों की प्रयोगशालाओं को उन्होंने पूर्णतः अपने नियंत्रण में ले लिया। 1919 में एसोसिएशन के सचिव अमृतलाल सरकार के निधन के बाद रामन मानद सचिव चुन लिए गए। 1917 से 1933 तक रामन कलकत्ता विश्वविद्यालय के पालित प्रोफेसर बने रहे। इसे उनके जीवन का स्वर्णिम युग कहा जा सकता है। इसी दौरान उन्होंने प्रकाश के छितराव पर अपना वह काम शुरू किया जिसकी परिणिति आगे चलकर 'रामन-प्रभाव' में हुई।

रामन बैंगलोर में

1933 में रामन का साथ कलकत्ता से छूटा। वे बैंगलोर स्थित भारतीय विज्ञान संस्थान (इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइंसिस) के निदेशक नियुक्त हुए। यहीं से शुरू हुआ उनके जीवन का प्रशासनिक दौर। उस समय वे वैज्ञानिक ख्याति के शिखर पर थे। वे सर सी. वी. रामन, फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी और नोबेल पुरस्कार विजेता थे। उन्होंने इंस्टिट्यूट के प्रशासन में कई तब्दीलियां की। उस समय तक इंस्टिट्यूट में केवल रसायन, जीव
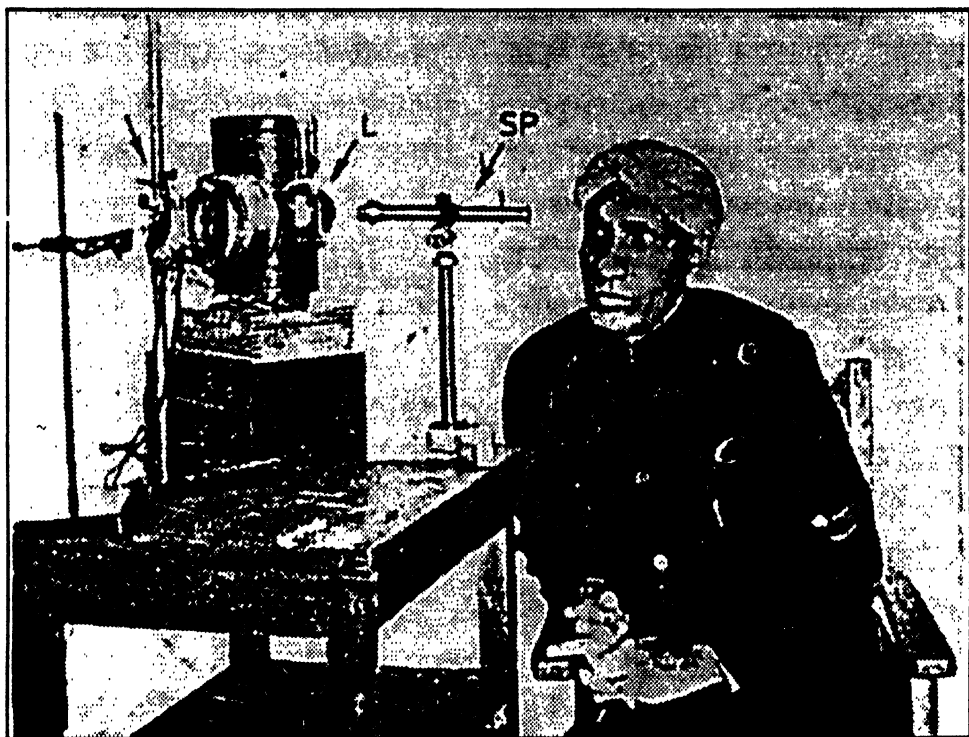
रामन प्रयोग शाला में प्रयोग करते हुए।

रसायन और विद्युत इंजीनियरी के ही विभाग थे। रामन ने अपने अधीन भौतिकी विभाग का काम शुरू किया। नए विभाग के खुलने से कुल धनराशि का एक बड़ा अंश भौतिकी के काम आने लगा जो कि इससे पहले अन्य विभागों को उपलब्ध होता था। चंद प्रतिभाशाली वैज्ञानिक भी अन्य विभागों की अपेक्षा भौतिकी की ओर मुड़े। फलस्वरूप निदेशक और अन्य विभागों के प्रधानों के बीच कुछ तनाव-सा पैदा हुआ।

लेकिन इन सबके बावजूद, महत्वपूर्ण था निदेशक का स्वयं वैज्ञानिक अनुसंधानों में शामिल होना। वे सुबह जल्दी ही प्रयोगशाला पहुंच जाते और अपना प्रशासनिक काम शुरू होने तक वहीं जमे रहते। शाम को भी वे देर तक वहां रुकते, अनुसंधान करते या छात्रों के कार्य का निरीक्षण तथा उनका मार्ग दर्शन करते। संस्थान की नाना प्रशासनिक गतिविधियों में मसरूफ रहने के बावजूद रामन ने विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान किए। उन्हीं दिनों हिटलर के जर्मनी में यहूदियों पर अत्याचारों का सिलसिला शुरू हुआ। हिटलर के आतंक से बचने के लिए कई सुविख्यात वैज्ञानिक जर्मनी

छोड़ कर जा रहे थे। रामन ने कई वैज्ञानिकों को अपने संस्थान में स्थाई पद का निमंत्रण दिया।

रामन के इस प्रशासनिक दौर में हम उनकी मानवीय कमज़ोरियों से वाकिफ होते हैं। उनकी कई प्रशासनिक अक्षमताएं उभरकर सामने आईं और उन्हें काफी मुश्किलातों का सामना करना पड़ा। उनके व्यक्तित्व के इस दुखद पहलू की एक झलक हमें प्रसिद्ध जर्मन भौतिकविद और नोबेल पुरस्कार विजेता मेक्स बोर्न की आत्मकथात्मक पुस्तक 'माइ लाइफ: रिफलेक्शन्स ऑफ ए नोबेल लॉरिएट' में मिलती है।

प्रशासनिक मुश्किलों के कारण 1937 में रामन ने निदेशक का पद त्यागने का निश्चय किया। लेकिन वे भौतिकी विभाग के प्रधान बने रहे। उनके इस निर्णय पर लॉर्ड रदरफोर्ड ने 3 अगस्त 1937 के अपने एक पत्र में लिखा, "मुझे यह जानकार बड़ी खुशी हुई कि संस्थान के निदेशक के रूप में आपको जो चिंताएं थीं, जो व्यवधान थे, अब उनके न होने से आप बैंगलोर में निश्चिंत होकर अपना भौतिकी का काम जारी रख पाएंगे। अब जबकि सब तय हो चुका है तो मुझे विश्वास है कि आप अपना निजी शोधकार्य करेंगे व गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ेंगे।"
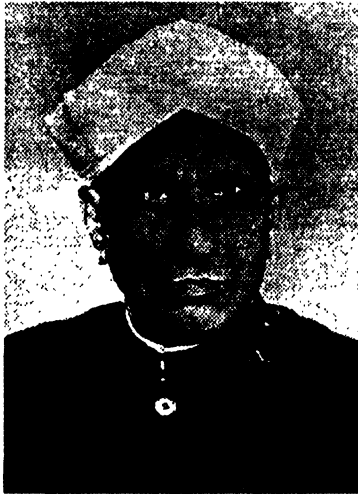
रामन रिसर्च इंस्टिट्यूट

1948 में संस्थान से निवृत्ति के पश्चात रामन ने स्वयं की एक संस्था स्थापित की जो अब रामन रिसर्च इंस्टिट्यूट के नाम से जानी जाती है। अपनी इस संस्था से रामन मृत्युपर्यंत जुड़े रहे। वे कुछ-कुछ एकांतवासी हो गए थे और अपना सारा समय निजी अनुसंधान में बिताने लगे। वे फूलों के रंगों और मानव दृष्टि पर अनुसंधान करने में जुट गए। अनुसंधान के उपकरण थे उनकी अपनी आंखें, एक स्पेक्ट्रोस्कोप और अपने बाग के रंग-बिरंगे फूल। उन्होंने इस विषय पर कई लेख प्रकाशित किए। रंगों संबंधी उनका कार्य 'द फिज़ियोलॉजी ऑफ विज़न' नामक उनकी किताब में कलमबद्ध है।

रामन विलक्षण संप्रेषण प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने इस बात की ज़रूरत

महसूस की कि भारतीय वैज्ञानिक नियमित रूप से आपस में मिलें और अपने-अपने अनुसंधानों की महत्वपूर्ण जानकारी का आदान-प्रदान करें। इसी उद्देश्य से उन्होंने 1934 में बैंगलोर में भारतीय विज्ञान अकादमी की स्थापना की थी। अकादमी की गतिविधियों ने सारे विश्व का ध्यान अपनी ओर खींचा। आज भी यह अकादमी विभिन्न क्षेत्रों में उच्चस्तरीय शोध-पत्र प्रकाशित कर एक ऐसा महत्वपूर्ण काम कर रही है जिसकी नींव रामन ने रखी। 21 नवंबर 1970 को रामन की मृत्यु हुई।

समुद्र का नीला रंग और रामन प्रभाव

विज्ञान के इतिहास के अध्ययन के दौरान हम अक्सर पाते हैं कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा के विकास का प्रारंभिक बिंदु प्रकृति की किसी-न-किसी परिघटना का अध्ययन कर रहा है। इसकी एक बेहतरीन मिसाल हमें रामन प्रभाव में मिलती है। लॉर्ड रैले ने समुद्र के गहरे नीले रंग का कारण आकाश के नीले रंग का प्रतिबिंब बताया था। सन् 1921 में रामन ऑक्सफोर्ड में होने वाली विश्वविद्यालयीन कांग्रेस में शामिल होने के लिए भारतीय प्रतिनिधि के रूप में चुने गए। यात्रा के दौरान रामन भूमध्य सागर के अद्भुत नीले रंग से अचंभित हुए। उन्होंने एक खास प्रिज़्म की मदद से कुछ प्रयोग जहाज़ पर ही किए और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि लॉर्ड रैले की व्याख्या पूर्ण रूप से सही नहीं है। उन्हें यह बात असंगत नहीं लगी कि यह चमत्कार जलकणों द्वारा सूर्य के प्रकाश के बिखराव के कारण संभव है। लेकिन इसके लिए यह ज़रूरी था कि तरल पदार्थों में प्रकाश के विसरण या फैलाव के नियमों की खोज की जाए।

सितंबर 1921 में कलकत्ता लौटते ही उन्होंने इस आशय के अनुसंधान शुरू किए। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि जिस विशेष प्रयोजन से ये प्रयोग शुरू किए गए थे उससे कहीं अधिक इस विषय की महत्ता है। ऐसा लगा कि यह शोधकार्य भौतिकी और रासायनिकी की जटिलतम समस्याओं की ओर ले जाएगा। इसी विश्वास ने रामन और उनके सहयोगियों को इस विषय से गहराई से जुड़ने को प्रेरित किया।

शुरुआती प्रयोगों के आधार पर यह स्पष्ट हुआ कि परमाणुओं द्वारा प्रकाश का छितराव न केवल गैसों में बल्कि तरल, क्रिस्टलीय तथा अक्रिस्टलीय ठोस पदार्थों में भी होता है। यह भी स्पष्ट हो चला था कि यह मुख्य रूप से माध्यम की आण्विक अस्त-व्यस्तता से उत्पन्न प्रभाव है। इस अस्त-व्यस्तता के कारण माध्यम के कुछ भागों में अधिक परमाणु मौजूद होते हैं और कुछ में कम और छितराव इस असमान घनत्व से संबंधित है। अक्रिस्टलीय ठोस पदार्थों को छोड़कर अन्य मामलों में इस आण्विक अस्त-व्यस्तता के पीछे उष्मा का हाथ माना जा सकता है। प्रयोगों के जो परिणाम निकले उनसे इस विचार की पुष्टि होती दिखाई दी। परंतु तरल पदार्थों में एक ऐसा बिखराव तरल पदार्थों के विषम दिक परमाणुओं के अनुस्थापन से उत्पन्न होता है। यह बिखराव घनत्व संबंधी बिखराव से इसलिए भी भिन्न है क्योंकि इस मामले में बिखरने वाला प्रकाश ध्रुवित होता है जबकि अन्य मामलों में वह अध्रुवित होता है।

यह सारा काम चिरसम्मत तरंग सिद्धांत के आधार पर किया गया था। जो नतीजे निकले, उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय ने फरवरी 1922 में प्रकाश का आण्विक छितराव नामक लेख के रूप में प्रकाशित किया। परंतु इस काम ने इसकी ओर भी साफ इशारा किया कि प्रकाश के बिखराव की व्याख्या से आइंस्टाइन की फोटॉन धारणा कहीं-न-कहीं उभर आएगी और ऐसा हुआ भी।

अप्रैल 1923 में रामन के मार्गदर्शन में उनके सबसे पुराने छात्र के. आर. रामनाथन ने कुछ तरल पदार्थों में विभिन्न ताप व दाब स्थितियों में बिखरने वाले प्रकाश का अध्ययन किया। एक प्रयोग में उन्होंने पानी पर आपतित सूर्य प्रकाश द्वारा उत्पन्न छितराए प्रकाश का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि अपेक्षित बिखराव के अलावा एक अन्य बहुत कमज़ोर बिखराव भी मौजूद है। इस बिखराव की विशेषता है कि छितराए प्रकाश की तरंग लंबाई आपतित प्रकाश की तरंग लंबाई से भिन्न है। उन्होंने जामुनी रंग का अवलोकन किया और देखा कि छितराए प्रकाश में अधिक तरंग-लंबाई का हरा रंग भी मौजूद है। उन्होंने सोचा कि शायद ऐसा पानी की अशुद्धता के कारण हुआ होगा। शुद्ध पानी में प्रयोग दोहराने पर भी यह

छितराव मौजूद था।

1924 में रामन के एक और सहयोगी के. एस. कृष्णन ने इस घटना का अध्ययन अन्य तरह के 65 पदार्थों में किया। परंतु उन्होंने अपना यह शोधकार्य बीच में ही छोड़ दिया। उन्होंने इस परिघटना को 'कमज़ोर विकिरणन' नाम दिया। विकिरणन में भी पदार्थ प्रकाश को सोखकर उसे अधिक तरंग-लंबाई के प्रकाश के रूप में उत्सर्जित करता है।

1927 में कृष्णन फिर से इन प्रयोगों में जुट गए और उन्हें यही नतीजे फिर से प्राप्त हुए। बाद में एक अन्य सहयोगी एस. वेंकटेश्वरन ने इस घटना का सबसे स्पष्ट उदाहरण सूर्य के प्रकाश और ग्लिसरीन के प्रयोग में पाया। बिखरने वाले प्रकाश में नीले के बदले हरा रंग प्राप्त हुआ। परंतु रामन और उनके सहयोगियों को यह मालूम था कि यह परिघटना विकिरणन नहीं हो सकती क्योंकि विकिरणित प्रकाश अध्रुवीकृत (non-polorized) होता है जबकि यह प्रकाश ध्रुवीकृत है। इस आधार पर उन्होंने इसे 'संशोधित प्रकीर्णन' का नाम दिया।

उसी साल के आखिर में ए. एच. कॉम्पटन को नोबेल पुरस्कार दिया गया। यह पुरस्कार उन्हें एक्स किरणों में कॉम्पटन प्रभाव के लिए दिया गया था। कॉम्पटन ने पाया कि अल्प तरंग-लंबाई और उच्च आवृत्ति वाली एक्स किरणों के बिखराव में ये किरणें अपनी ऊर्जा परमाणुओं के इलेक्ट्रॉनों को स्थानांतरित करती हैं। इसके फलस्वरूप बिखरने वाली किरणों की तरंग-लंबाई आपतित एक्स किरणों की तरंग-लंबाई से अधिक होती है। हालांकि 1923 में ही रामन को इस बात का अहसास ज़रूर हो गया था कि पदार्थ के अणुओं और प्रकाश के बीच ऊर्जा का स्थानांतरण क्वांटा में हो सकता है पर अब वे कॉम्पटन के इस सिद्धांत को दृश्य प्रकाश पर प्रयुक्त करने में जुट गए। और, आइंस्टाइन व स्मॉलुचवस्की के क्वांटम सिद्धांत के आधार पर वे प्रकाश के इस नए छितराव की पूरी व्याख्या पाने में सफल हो गए।

1927 में ही रामन ने इस नए छितराव की आम घोषणा की जो अब 'रामन-प्रभाव' के नाम से जाना जाता है। बाद में उन्हें पता

चला कि रूसी वैज्ञानिकों ने भी क्वार्ट्ज़ में यह प्रभाव देखा था। इस प्रभाव की खोज में जो उपकरण इस्तेमाल हुए थे वे काफी साधारण थे। वर्षों बाद रामन ने कहा था, 'विज्ञान का अस्तित्व महंगे उपकरणों में नहीं बल्कि स्वतंत्र चिंतन और कठोर परिश्रम में है।'

इस नई खोज ने काफी धूम मचाई। गणितज्ञों ने इसमें उस नई क्वांटम यांत्रिकी का प्रमाण देखा जो शीघ्र ही न्यूटनीय भौतिकी का स्थान लेने वाली थी। आगे चलकर 'रामन स्पेक्ट्रोस्कोपी' के इस नए क्षेत्र ने पदार्थ संरचना के अध्ययन को विस्तृत व्यावहारिक रूप दिया और एक दशक के अंदर ही 2500 से अधिक रासायनिक यौगिकों का अध्ययन हो पाया। तकरीबन 2000 पर्चे भी लिखे गए। ऐसा अनुमान है कि 1987 तक इन पर्चों की संख्या 45000 से भी ऊपर पहुंच चुकी है।

लेसर की खोज ने रामन प्रभाव पर आगे के मौलिक अनुसंधान को और भी गति प्रदान की। क्योंकि सामान्य प्रकाश समान रूप से ध्रुवीकृत नहीं होता और उसमें विभिन्न तरंग-लंबाई वाले हिस्से होते हैं; जबकि एक लेसर-पुंज का प्रकाश समान तरंग-लंबाई, आवृत्ति और ध्रुवीकरण वाला होता है। 'रामन-प्रभाव' की मदद से जैविक नमूनों का अध्ययन भी संभव हो पाया है।

1930 में रामन को इसी शोध के लिए नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। लेकिन इस पुरस्कार को लेकर विवाद खड़ा हो गया। कई लोग इस प्रभाव को रामन-कृष्णन प्रभाव कहते हैं क्योंकि इस खोज के दौरान कृष्णन का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा था। हालांकि कालांतर में नोबेल पुरस्कार की घोषणा के बाद रामन ने कृष्णन के इस योगदान को नकारा। अत्यंत प्रतिभाशाली और महात्वाकांक्षी रामन के व्यक्तित्व का वह एक दुखद पहलू था।

यह लेख स्रोत के नवंबर 1989 के अंक से लिया गया है।

स्रोत: एकलव्य द्वारा संचालित फीचर सेवा है जो अखबारों को विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी संबंधी लेख उपलब्ध करवाती है।

रामन एक पहलू यह भी . . . .

भौतिकशास्त्र के प्रोफसर कामेश्वर वाली ने नोबल पुरस्कार विजेता एस. चन्द्रशेखर (रामन के भतीजे) की जीवनी लिखी है। इसमें उन्होंने चन्द्रशेखर के साथ रामन के साथी कृष्णन के बारे में काफी लंबी बातचीत की। सी. वी. रामन के व्यक्तित्व का एक भिन्न पहलू उजागर करते हुए संपादित अंश यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

कामेश्वर वाली: बहुत साल पहले हिन्दुस्तान में मैंने सुना था कि कृष्णन को इस खोज का उचित श्रेय नहीं मिला। दरअसल, उनकी भी इस खोज में बराबर की भागीदारी थी इसलिए उसे रामन-कृष्णन प्रभाव कहलाना चाहिए। आपका क्या ख्याल है इसके बारे में?

चंद्रशेखर: आप जिस तरह की अफवाहों का ज़िक्र कर रहे हैं उनकी वजह से दोनों में संबंध काफी बिगड़ गए थे। मेरा अपना मानना है कि रामन प्रभाव की खोज इसलिए संभव हो पाई क्योंकि दो एकदम मौलिक वैज्ञानिक एक-दूसरे के पूरक रूप में इस सवाल से एक साथ जूझ रहे थे। 1928 में मेरी यही मान्यता थी।

कामेश्वर वाली: आप कृष्णन से आखिरी बार कब मिले?

चंद्रशेखर: मैं और कृष्णन 1951 में मद्रास के हवाई अड्डे पर यूं ही संयोगवश एक-दूसरे से टकरा गए। कुछ दिन बाद हमने साथ में खाना खाया और मेरी कृष्णन से लंबी बातचीत हुई।

कामेश्वर वाली: क्या आपने उससे इस विवाद के बारे में चर्चा की?

चंद्रशेखर: उस बातचीत के दौरान कृष्णन ने कुछ बातें ज़रूर बताईं। अगर आप उस समय की घटनाओं का क्रम देखें तो सबसे पहले 31 मार्च 1928 को 'नेचर' शोध पत्रिका में इस खोज के बारे में एक खत प्रकाशित हुआ था जिस पर रामन और कृष्णन दोनों के दस्तखत थे। फिर 'नेचर' पत्रिका के 5 मई 1928 के अंक में रामन प्रभाव से संबंधित स्पेक्ट्रम और उसकी सही व्याख्या देते हुए खत पर भी रामन और कृष्णन के दस्तखत मौजूद थे। लेकिन इन दो खत के बीच 21 अप्रैल 1928 के 'नेचर' के अंक में एक और खत प्रकाशित हुआ था जिस पर सिर्फ रामन के दस्तखत थे। नेचर में प्रकाशित इस खत को देखकर कृष्णन की समझ में नहीं आया कि रामन ने ऐसा क्यों किया?

कृष्णन के अनुसार बाद में रामन ने खेद व्यक्त किया कि वे इस खत की जानकारी कृष्णन को नहीं दे पाए।

इसी तरह 16 मार्च 1928 को रामन ने अपनी खोज के बारे में एक भाषण दिया। जिसे बाद में उनके नाम से प्रकाशित किया गया।

यदि 16 मार्च का भाषण और 21 अप्रैल को नेचर में छपे खत को छोड़ दिया जाए तो उस समय के सब दस्तावेजों में रामन के साथ कृष्णन का नाम सह-लेखक के रूप में मौजूद है। इस खोज के बारे में पहला विस्तृत ब्यौरा इंडियन जर्नल ऑफ फिज़िक्स [2, नं. 4(1928): 399] में प्रकाशित हुआ, उसमें भी रामन के साथ कृष्णन का नाम है।

कृष्णन का यह मानना था कि रामन ने उसका नाम खोज से बाहर रखने के लिए इन मौकों पर उसके नाम का उल्लेख नहीं किया। उसके बावजूद जहां तक मुझे मालूम है कृष्णन ने कभी भी इस मसले पर कोई बात नहीं की। परन्तु रामन ने कई सार्वजनिक मौकों पर भी कृष्णन की भागीदारी पर सवाल उठाए।

यहां तक कि जब कृष्णन की मौत हुई तो रामन ने 'टाइम्स ऑफ इंडिया' को दिए एक साक्षात्कार में बड़ी तल्खी से कहा, "कृष्णन एक अति धूर्त व्यक्ति था और उसने सारी उम्र दूसरे व्यक्ति की खोज का लबादा ओढकर गुज़ार दी।" मैं जितना भी जानता हूं उसके मुताबिक कृष्णन के बारे में ऐसा कथन बिल्कुल भी उचित नहीं है। यही नहीं रामन ने खुद नोबल पुरस्कार पाने के बाद दिए लेक्चर में कृष्णन का कई मर्तबा उल्लेख किया था। जो काफी न्यायसंगत था।

कृष्णन ने 1928 की जनवरी से अप्रैल तक किए शोधकार्य का ब्यौरा अपनी डायरी में दर्ज किया था। कृष्णन की वह डायरी बाद में उनके ही एक साथी रामनाथन के पास सुरक्षित मिली। मैंने इस डायरी की एक प्रति ब्रिटिश रॉयल सोसायटी के संग्रहालय में पहुंचवाई ताकि कम-से-कम भविष्य के इतिहास के लिए ये सब जानकारियां मौजूद रहें।

चंद्रशेखर और कामेश्वर सी. वाली की विस्तृत बातचीत के लिए देखें
'चंद्रा – ए बायोग्राफी ऑफ एस. चंद्रशेखर' लेखक: कामेश्वर सी. वाली, प्रकाशक पेंगुइन।

भाषा, अनुभव और विज्ञान

अनुपम मिश्र

पिछले दो दिनों में हमें तीनों संस्थाओं को देखने का सुअवसर मिला। सच कहा जाए तो यहां आने से पहले इनके नाम तक से भी ठीक परिचय न था, न विज्ञान से ही ज़्यादा संबंध था। लेकिन इन तीन दिनों में, एक तरह से, विज्ञान की तीन मूर्तियों का दर्शन हमें हो सका। सूक्ष्म संसार कितना विराट हो सकता है, वो हमने पहली संस्था में देखा। 'सेल' तक का नाम ही सुना था, लेकिन उसके भी कितने टुकड़े हो सकते हैं, उन पर कितना काम किया जा सकता है, उसकी थोड़ी-सी झलक देखी। बचपन में धरती वाले पाठ में पढ़ते थे कि हमारी धरती 'रत्नगर्भा' है।

दूसरी संस्था में इस शब्द का सही अर्थ समझने का अवसर मिला। पता लगा कि आप लोग कितने ही रत्न खोजने में लगे हैं और धरती की परत-परत खोल रहे हैं। तीसरी संस्था में रस को लेकर काम चल रहा है। मैं सोचता हूं हमारा सारा जीवन ही रसमय है। तो इन तीनों विलक्षण संस्थाओं को, इन दो-तीन दिनों में पास से देखने का मौका मिला।

जैसा कि मेरे वरिष्ठ साथियों ने भी कहा था शोध एक प्रकार का तप है। लेकिन ऐसा नहीं कि इस तप का फल आप अकेले अपने साथ ले जाएंगे। आप इसके फल को समाज में, समाज की भलाई के लिए बांट देते हैं। कल जब हमें एक संस्था का परिचय दिया जा रहा था तो उसके तीन उद्देश्य बताए गए थे। उसमें 'ज्ञान और शोध' एक था, दूसरा 'अर्थ' और तीसरा 'समाज'। फिर उन्होंने कहा आजकल 'अर्थ' का ज़माना है, उसका बोलबाला है, इसलिए सबसे प्रथम हम अर्थ के बारे में ही कुछ समझते हैं। मुझे यह भी लगता है कि हमारे समाज में भी कभी 'अर्थ' को भूल कर कोई काम किया हो, ऐसा नहीं। हमारे यहां अर्थ को देवी से जोड़ते हैं और वह देवी भी आप सबके सामने है, हमने उन्हें 'महालक्ष्मी' कहा है। महालक्ष्मी का परिवार जब हमारे तपस्वियों या मनीषियों ने बनाया होगा, उन्हें विष्णु से जोड़ा जो विवेक के देवता हैं। तो 'अर्थ' का होना कोई बुरा नहीं लेकिन अर्थ के लिए विवेक खोना बुरा है। आप देखेंगे उन एशिया के देशों को जिन्हें दो-चार महीने पहले तक 'एशियन टाइगर' कहा जाता था, उनकी अर्थव्यवस्था छलांग लगाकर हम जैसे देशों से आगे निकली थी, आज उन्हें आप भरभरा कर गिरते भी देख रहे हैं पिछले एक-दो महीनों में। तो यह अर्थ वाले मामले में हमें विवेक का ध्यान रखना ही चाहिए।

जो कुछ काम हम लोगों ने इन दो-तीन दिनों में देखा उनमें से कुछ साथी मरुभूमि के 50° सेंटीग्रेड तापमान में काम कर रहे हैं और दूसरी तरफ, मैं गलत नहीं हूं तो −50° (शून्य से 50° नीचे) सेंटीग्रेड तापमान में, एंटार्कटिक में जो कुछ कर रहे हैं, उसके प्रयोग भी दिखाए गए। ये बिल्कुल दो अलग-अलग छोर हैं।

फिर कोई वैज्ञानिक रेशम के धागे को मज़बूत बनाने में लगे हैं तो दूसरी ओर जो सबसे मज़बूत अपराधी माना जाता है, उसको डी. एन. ए. के ज़रिए कमज़ोर कैसे साबित किया जा सकता है यह भी देखा। एक छोर से दूसरे छोर तक का काम आप सब लोगों ने इतने प्रेम और लगन के साथ दिखाया है कि उन सबके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने व धन्यवाद कहने के लिए ही मैं यहां खड़ा हुआ हूं।

भाषावाली बात आई – हम लोगों को यह प्रयोग बताया गया 'समागम'। हिन्दी में लिखने, पढ़ने की बात। मैं तो ऐसा मानता हूं कि मुझे इस समागम में जो कुछ मिला, वह मैंने देखा कि 'मन की भाषा' है। आप लोगों ने कैसी बारीक-बारीक चीज़ों को मन से इतने प्रेम से हम जैसे लोगों को समझाने की कोशिश की है, बिना यह देखे कि हमारी पात्रता क्या है। कम-से-कम मैं अपने बारे में कहूंगा कि कल जब हमें सोना निकालने वाले प्रयोग में बताया गया है कि एक टन मिट्टी में दशमलव शून्य पांच ग्राम सोना भी निकल आए तो ठीक है, मैं उस दर्जे में भी नहीं हूं। फिर भी आपने अपने यंत्रों में लगाकर देख लिया कि, भई चलो, एक टन मिट्टी में इतना कण बराबर सोना ही सही, उसी तरह हम हैं।

कुछ छोटी-छोटी चीज़ें हैं, जिन्हें जल्दी-जल्दी आप लोगों के सामने रखने की कोशिश करूंगा। एक साथी हमारे बीच में नहीं हैं, वो वरिष्ठ हैं सिर्फ इस नाते नहीं, लेकिन मुझे कुछ चीज़ें रिपोर्ट देखकर बहुत आश्चर्यजनक लगीं। प्रो. डी. बाल सुब्रह्मण्यम जिनके एक लेख का ज़िक्र मैंने एक रिपोर्ट में देखा, उसका शीर्षक देखकर ही बहुत अच्छा लगा कि हमारे एक प्रमुख वैज्ञानिक इस ढंग से लिख सकते हैं कोई चीज़। बाहर से जिन लोगों को यहां आप बुलाते हैं उसमें मैंने नोम चोमस्की का भी नाम देखा, भाषा पर जिनका अत्याधिक काम रहा है। इन्हीं से मुझे लगा कि कुछ बातें फिर से आपके सामने रखूं।

18वीं सदी का भारत

हम गुलाम हुए ठीक है, एक दौर आता है दुनिया में कि कुछ लोग जीत का झंडा लेकर निकलते हैं तो कुछ को घुटने टेकने पड़ते हैं मजबूरी में। वह सब दौर खत्म हो गया। लेकिन, उपनिवेश अपना एक असर छोड़ जाता है। जो कोई समाज किसी समाज को हराता है तो उसे तन से भी तोड़ता है और मन से भी तोड़ता है। यह शायद उसकी मजबूरी भी होती होगी। लेकिन सोचें कि अंग्रेज़ों के आने से ठीक पहले हमारा देश क्या था। अभी जोशी जी ने जिस काल खंड में आपको खींचने की कोशिश की, वहां अगर आप अभी न आकर बिल्कुल 18वीं शताब्दी की दहलीज़ पर खड़े होकर अपने देश को देखें। मेरा कहना है कि हमारी कोई भी पाठ्य-पुस्तक, हमारा कोई भी समाज चिंतक, कोई भी राजकीय नेता – सब उस 18वीं शताब्दी के बारे में बिल्कुल शून्य हैं। या तो हम बिल्कुल पीछे की बातें जानते हैं या फिर आज की। 18वीं शताब्दी में हमारे समाज की स्थिति क्या थी? कहां हमने घुटने टेके? उस समय हम क्या थे? इन बातों के बारे में डॉक्युमेंटेशन ढंग से

जिन संस्थाओं को, जिन लोगों को करना चाहिए था वह नहीं हुआ। मैं सिर्फ संकेत रूप में एक नाम आपके सामने रखना चाहूंगा। उनका नाम है धर्मपाल जी। इन्होंने इतिहास को बहुत ही भिन्न किस्म से लिखा है। उनकी एक पुस्तक का नाम है 'साइंस एंड टेकनॉलॉजी इन 18 सेंचुरी, सम कंटेम्परगी एविडेंस' शैली बहुत अच्छी है। मैं खुद लिखूं और वही कहूं कि अठारहवीं शताब्दी में मेरे पास यह था, वह था, रॉकेट था, जहाज़ था तो आप कहेंगे कि यह सब बेवकूफी की बातें हैं। लेकिन धर्मपाल जी की शैली अलग है। इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी नाम की लंदन में एक लाइब्रेरी है। उसमें अंग्रेज़ी राज का कुछ लिटरेचर रखा हुआ है। अंग्रेज़ जब हमारे यहां आए तो कुतूहल के कारण उन्होंने कुछ चीज़ें इकट्ठी की। अगर हैदराबाद आए, रायलसीमा गए तो यहां का हल कैसे होता है, कैसे सिंचाई होती है, कैसे फल हैं, यह सब उन्होंने विभिन्न स्तरों, ओहदों में अपने देश को रिपोर्ट के रूप में, कभी-कभी मां-बहन-मित्रों को चिट्ठी के रूप में लिख भेजा था। इस सारे साहित्य को एकत्रित कर वहां सुरक्षित रखा गया। धर्मपाल जी ने अठारह साल उस पुस्तकालय में बैठकर काम किया और ऐसे सारे सबूतों को इकट्ठा किया जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी से संबंधित थे। शायद दो सौ पन्नों में इस तरह की चीज़ें हैं और करीब पचास पन्नों में भूमिका, कि यह सब क्या बतलाता है। शायद आपको अचरज होगा सुनकर कि तमिलनाडु के तंजाऊर के एक मंदिर में चेचक फैलने से पहले चेचक का टीका एक पुजारी द्वारा लगाने संबंधी वर्णन किसी एक अंग्रेज़ का मिलता है। ऐसे बहुत सारे उदाहरण आपको मिलेंगे और मुझे लगता है, क्योंकि आप विज्ञान क्षेत्र में हैं, तो ज़रूर इसे अपने ढंग से कभी पलटकर देखें, धर्मपाल जी द्वारा लिखे साहित्य को। केवल पुराना ही सब कुछ अच्छा हो और उससे ही वर्तमान टिका हो, यह नहीं।

मेरे परिचय में कहा गया कि मैंने राजस्थान को पानी दिया है, मैंने पानी नहीं दिया है। राजस्थान समाज ने पानी का जो प्रबंध किया उसका मैंने मुनीम जैसा काम किया, दो किताबों के माध्यम से, जिन्हें आप जैसे लोगों का बहुत प्यार मिला है। मैं बहुत संक्षेप में आपके सामने रखूंगा कि राजस्थान को पानी के मामले में पूरे देश में गरीब प्रांत माना जाता है, जहां 3 से 9 इंच पानी बरसता है। मुझे हैदराबाद का नहीं मालूम, शायद यहां 25-30 इंच तो होना ही चाहिए। इसका दसवां हिस्सा पानी जिस जगह को मिले, उसका वर्णन हम लोगों को जब मिला तो हमारी आंखे फटी रही गईं। उससे हमारे समाज की चीज़ों का एक हल्का-

सा अंदाज़ा लगता है। वहां मरूभूमि में स्कूल शायद सरकार 20 प्रतिशत गांवों तक पहुंचा सकी। डाक घर जिसमें केवल एक लोहे का लाल डिब्बा लगाना है, सिर्फ 28-30 प्रतिशत तक पहुंचाया। अस्पताल 12-15 प्रतिशत, बिजली के बारे में पता चलता है कि सिर्फ 4 प्रतिशत गांवों में पहुंचा पाए हैं। लेकिन जब पानी के बारे में देखा तो पाया यह 99.7 प्रतिशत गांवों में उपलब्ध है। आखिर यह सरकारी आंकड़े थे। हम लोग चौंके कि जहां पानी का बजट प्रकृति ने ही सीमित कर दिया उसके बावजूद 99 प्रतिशत गांवों में पानी है। और डाकघर पहुंचा नहीं पाए, स्कूल पहुंचा नहीं पाए जिसके लिए विश्व बैंक भी उधार देने को तैयार खड़ा है। तो हमें लगा कि इसके पीछे कोई और ताकत है। उस ताकत को देखते यह समझ में आया कि पानी के मामले में उस समय भी इतना वैज्ञानिक दृष्टिकोण था; और यह सारा काम सरकार ने नहीं, मरूभूमि में, समाज ने अपने बलबूते पर किया है।

अभी शब्दों की बात चली, मैं बिल्कुल सहमत हूं कि अनुवाद के शब्दों से हम काम नहीं चला सकते। बोलियों के साथ हिन्दी का या किसी भी भाषा का जो संपर्क होना चाहिए वह किसी अहं के कारण टूटता है तो बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। राजस्थान की बोलियों में बादल के लिए करीब 40 नाम हमने इकट्ठे किए। हो सकता है कि उससे भी ज़्यादा मिलें, और ये पर्यायवाची नाम नहीं हैं। तो कितना संपन्न समाज रहा होगा, कितना वैज्ञानिक रहा होगा वह समाज कि उसने एक-एक बादल को एक-एक ढंग से पकड़ लिया, उसके आकार से, रंग से, उसकी ऊंचाई से, उसके कर्तव्य से। कोई कामचोर बादल हो तो उसका कामचोर बादल नाम रखा होगा, कोई तेज़ रहा हो तो उसका नाम भी तेज़ रखा होगा। इस तरह से सारी चीज़ें देखते-देखते हमें उस समाज की वैज्ञानिकता का अंदाज़ हो जाता है। आधुनिकतम, जिसको हम वाटर मिशन जैसी संस्थाओं के प्रयोग कहते हैं, ये भी उन गांवों तक पहुंच नहीं पाते हैं। और समाज ने 35,000 गांवों तक पानी पहुंचाने का इतना बड़ा ढांचा खड़ा किया उसका अध्यक्ष कौन? डायरेक्टर कौन? वार्षिक बजट क्या है? आप सर पटक लीजिए आपको पता नहीं चलेगा और एक हज़ार साल से वह संस्था चल रही है अदृश्य रूप में। तो कहता हूं कि इतनी बड़ी संस्था है, इतना बड़ा उसका आकार है कि खुद वह निराकार हो गया, आपको दिखाई तक नहीं देता। अन्य संस्थाओं के मुख्यालय हमें देखने को मिलते हैं, उनका लोगो (चिन्ह) दिखता है, उनका अपना झंडा होता है, वार्षिक रिपोर्ट दिखती है। लेकिन मरूभूमि में पानी

का इतना विस्तृत इंतज़ाम करने वाली संस्था के निदेशक तक को आप ढूंढ नहीं पाएंगे। जिसने काम किया उसका कोई अता-पता नहीं।

आम जनता का विज्ञान

एक छोटा-सा उदाहरण आपके सामने और रखूंगा जो आपने 300 साल की न्यूटन वाली बात कही, बहुत ठीक कही; लेकिन पूरा विज्ञान वही समाज नहीं चलाता। विज्ञान की बहुत सारी शाखाएं होती हैं जिन पर समाज टिकता है। केवल एक फल टपकने की बात जो हुई उससे एक बड़ी दिशा मिली। लेकिन और भी बहुत कुछ पीछे-पीछे चलता है। मैं पहाड़ियों पर खेती संबंधी एक उदाहरण आपके सामने रखूंगा, जिसे सीढ़ीदार खेती कहते हैं, सारे पहाड़ों में दुनियाभर के पहाड़ों में, कोई ट्रान्सफर ऑफ टेकनॉलॉजी

सेमिनार नहीं हुआ होगा। जहां भी जो आदमी था, किसान था, उसने देखा कि इन पहाड़ों में अगर दो मुट्ठी अनाज पैदा करना है तो सीढ़ियां बनानी पड़ेंगी। आप क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले हैं, यकीन मानिए पूरी दुनिया की पर्वतमाला में सीढ़ीदार खेत के लिए जो आदर्श कोण होना चाहिए, ढाल का वही कोण मिलेगा। प्रयोग किए होंगे लोगों ने, 100-200 वर्ष प्रयोग में लगाए होंगे। आप अच्छी तरह समझ सकते हैं कि उसका जो स्लोप होता है वह बाहर की तरफ होता है। दुनिया में एक बड़ी संस्था है कृषि संबंधी, संयुक्त राष्ट्र के झंडे तले, विश्व खाद्य संगठन। इनके वैज्ञानिकों ने करीब 40 वर्ष तक टनों पेपर लिखे हैं कि सीढ़ीदार खेतों का स्लोप 'आउटवर्ड' न होकर 'इनवर्ड' होना चाहिए वरना 'मिट्टी का कटाव' होता है। मतलब यही कि दुनिया भरके किसान मूर्ख हैं और उन्होंने सारे सीढ़ीदार खेत गलत बनाए। यदि दुनिया भर के सीढ़ीदार खेतों की सीढ़ियों को ठीक करना हो तो यह असंभव बात है, सभी संस्थाओं को अन्य काम छोड़कर इसी के लिए लग जाना होगा। 'आउटवर्ड' सारी दुनिया ने किया, लेकिन इतनी बड़ी गलती सभी ने कैसे की ज़बकि विश्व खाद्य संगठन चालीस वर्ष तक कहता रहा कि स्लोप 'इनवर्ड' होना चाहिए। जहां-जहां उन्होंने ग्रान्ट देकर नए सीढ़ीदार खेत बनवाए वहां उन्होंने ज़ोर दिया कि स्लोप 'इनवर्ड' रहे। दस वर्ष के बाद नतीजे मिले तो पता चला कि जहां भी स्लोप भीतर की ओर है वहां ज़मीन में भूस्खलन ज़्यादा हुए। तब उन्होंने पाया, जब सीढ़ीदार खेत का स्लोप पीछे की तरफ होता है, तो पानी वहीं जमा होकर नीचे जाता है और पृथ्वी को जल्दी काटता है। तो, वे सारे किसान जो हज़ारों वर्षों से बाहर की तरफ स्लोप बना रहे थे, गलत नहीं हैं। फिलहाल विश्व खाद्य संगठन ने अपनी गलती को स्वीकार किया है।

एक और छोटा-सा उदाहरण, घराट, यानी पानी से चलने वाली चक्की। सारे पहाड़ों में, दुनिया के किसी भी पहाड़ पर जाइए, वहां का बढ़ई, वहां का लुहार, पत्थर टांकने वाला सिलावट, इन तीन लोगों का सबसे अच्छा मिलना जो होता था, वह घराट बनाने में होता था। किसी समाज सेवक मित्र ने कहा कि यह घराट पुरानी पड़ गई है, इन पर काम आगे नहीं हुआ है, इनको सुधारा नहीं गया है। अगर वहां का हवा पानी नहीं बदला तो उस पत्थर का सुधार कैसे हो? तो भी, उन्होंने कुछ प्रोजेक्ट वगैरा किया और कुल 40,000 घराटों की उन्होंने सूची बनाई जिनमें से 40 को सुधारा गया। मेरा कहना है कि चालीस की धुरी में आप सोने की कील भी लगा

दीजिए या हीरे की। लेकिन 40,000 घराट जिस गति से, जिस ढंग से चलाने का जो कुल वैज्ञानिक ज्ञान है उसमें हम लोगों को आस्था और भरोसा रखना चाहिए। और जैसा आपने बहुत ठीक कहा कि तीन सौ सालों में बहुत सारी चीज़ें बदली हैं, उनके बदलने की अपनी एक दिशा है – उसका यह एक अंश मात्र है।

आगे मैं एक-दो उदाहरण इस प्रांत से संबंधित देना चाहूंगा। यहां का रायलसीमा, जिसे अकाल ग्रस्त इलाका माना गया। यहां पर दक्षिण में, हैदराबाद में, तालाबों की सबसे अच्छी परंपरा मिलेगी। वो लोग पागल नहीं थे कि इस इलाके में सबसे अधिक तालाब बनाए। यहां तालाबों की अधिक ज़रूरत थी। उसमें एक विशेष पद्धति का नाम है दशपला पद्धति। यह हम लोगों ने सीखा, आप लोगों से। दस तालाबों को एक-दूसरे से जोड़ना, कभी दस नहीं होंगे, नौ भी होंगे या ग्यारह भी हो सकते हैं। तो जहां पानी कम बरसता है, वहीं तालाबों के जल प्रबंध की सबसे व्यवस्थित योजनाएं बनी। और इन्हें किसी सिविल इंजीनियर ने नहीं, समाज के सभी सदस्यों ने बनाया था। तालाब कहां बनेगा, उसका कैचमेंट कहां, कितना होगा, अतिरिक्त पानी कहां से निकलेगा, 'एप्रन' कैसा होगा आदि। और ये नाम आपको तेलुगू, तमिल, हिन्दी सब में मिलेंगे। एक है वेस्ट वियर सिस्टम (स्पिलवे), जिससे तालाब का पानी निकलता है। चाहे बड़े से बड़ा बांध हो, हुसैन सागर हो या छोटा जलाशय हो, उसमें वेस्टवियर ज़रूर होता है। इसे हम लोगों की तरफ 'अफरा' कहते हैं। यानी पेट अफर गया तो खाने से मना कर देते हैं। उसी प्रकार तालाब का पेट भर गया तो उसका पानी बाहर निकल जाता है। उसका एक नाम 'नेष्टा' है जो संस्कृत के 'निशृष्य' से बना है – सांस छोड़ना या पानी छोड़ना तालाब से। ये 'नेष्टा' शब्द जैसलमेर में भी चलता है और पाकिस्तान में भी, जिसे उर्दू का इलाका मानते हैं – एक मात्रा भी घिसी नहीं। तो लोगों का विज्ञान केवल भाषा से ही नहीं चलता है; जो उपयोग की चीज़ें होती हैं, उन्हें अच्छे ढंग से अपनाने में कहीं दिक्कत नहीं होती है।

यहां आकर मुझे एक और चीज़ आप लोगों से सीखने को मिली। वह यह है कि जब भाषा ज्ञान-विज्ञान के काम में इतने रमे रहते हैं तो बहुत सारी चीज़ें आप लोग बहुत सहजता से बताते गए कि "यह हमें नहीं मालूम। ये कैसे काम करता है, सेल को संदेश कैसे मिलते हैं या मॉलिक्यूल को संदेश कैसे मिलते हैं?" शायद उच्चारण मेरे गलत होंगे। कोशिका सिग्नल पर भी शोध चल रहा है। तो ये सारी चीज़ें

आप लोगों ने बताईं। एक तरफ से, हमें संसार का जितना ज्ञान है उससे कहीं अधिक संसार अज्ञात भी है। इसका ज्ञान होना भी बहुत बड़ा ज्ञान है कि हम लोगों को कितना नहीं पता? शायद आप लोग जानते होंगे कि 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ अननोन थिंग्स' भी तैयार हो रहा था। उसकी स्थिति क्या हुई मालूम नहीं। उसमें चैप्टर पर चैप्टर जुड़ते जा रहे थे उस समय। यहां आकर मालूम पड़ा कि कितना ज्ञात है उसी में से निकलता है कि कितना अज्ञात भी है। इस सबसे मन में श्रद्धा का भाव उभरता है कि हम लोग अपना कर्तव्य पूरा करें ज्ञान विज्ञान का। और इसमें नतमस्तक हों, एक शक्ति के प्रति, जिसे हम श्रद्धा से देखें। वह शक्ति समाज की हो सकती है, प्रकृति की हो सकती है, ईश्वर की हो सकती है।

एक-दो चीज़ें जो छोटे-छोटे सवालों में से उठीं। बायोडाइवर्सिटी, आप लोगों के लिए यह शब्द अपरिचित नहीं। भाषाओं के मामले में भी इस शब्द को भूलना नहीं चाहिए। मोनोकल्चर जितना धरती के लिए खराब है, फसल के लिए खराब है, उतना ही भाषा के लिए भी। अगर सारी दुनिया की भाषा
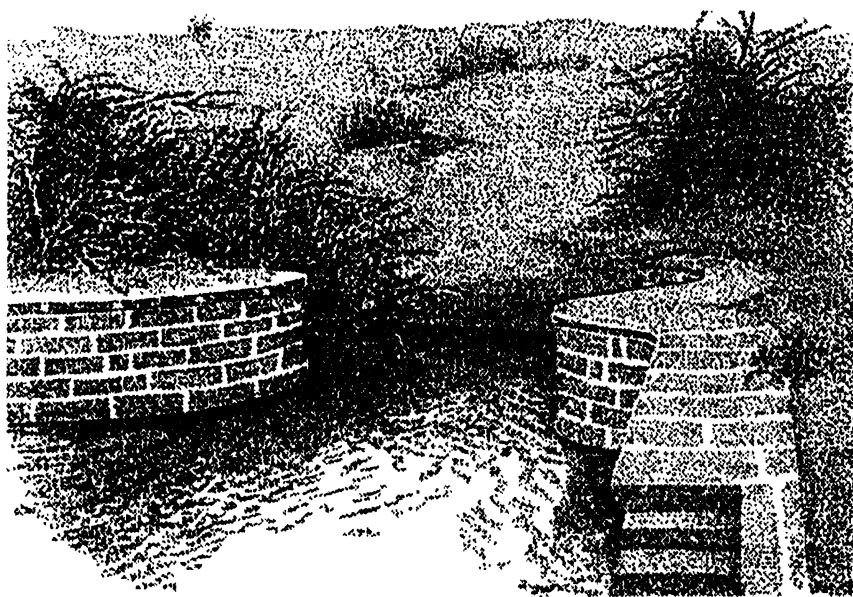
नेष्टा: यूं तो हरेक तालाब में अधिकतम कितना पानी भरा जाए इसकी कोई-न-कोई सीमा तय की जाती है। इस अधिकतम स्तर को पार करने के बाद पानी की निकासी के लिए नेष्टा बनाए जाते हैं। नेष्टा की वजह से तालाब की मेड़ टूटने का खतरा भी कम हो जाता है।

एक हो जाएगीं तो वह अच्छी बात नहीं होगी। बायोडाइवर्सिटी भाषा में भी उतनी ही ज़रूरी है। दूसरा, मन से यह हटा देना चाहिए कि भाषा और विज्ञान दो अविभाज्य चीज़ें हैं। मुझे लगता है यह सत्ता और विज्ञान है। जिसके हाथ में सत्ता रहती है वह समय के विज्ञान को एक तरह से नियंत्रित करता है। आज और कल में हम लोगों ने कई यंत्र देखे और कार्यक्रम देखे तो पता चला कि नीदरलैण्ड का अनुदान है, फ्रांस की सरकार का अनुदान है, यह यंत्र वहां से आया है। तो यह कोई अंग्रेज़ी भाषा में काम करने वाले देश से थोड़े ही आता है सारा। आप लोगों को अच्छा लगा तो, आप लोगों ने वहां से लिया। अगर उनके यहां किसी यंत्र की तरक्की हुई है तो अंग्रेज़ी के कारण नहीं हुई है, वहां उनकी अपनी भाषा के कारण हुई, अपनी मेहनत के कारण हुई है। मैं ऐसा मानता हूं कि जहां अंग्रेज़ी बोली जाती है वहां तरक्की हुई तो अंग्रेज़ी के कारण नहीं बल्कि उनकी अपनी भाषा के कारण हुई है। तो ज़ोर अंग्रेज़ी पर न रख कर अपनी भाषा पर रखना चाहिए। कुछ चीज़ें शायद ऐसी हो सकती हैं जो 'तुम्हीं ने दर्द दिया तुम्हीं दवा देना'। अगर दर्द उनका है तो कई बार दवा भी उनकी ही लेनी पड़ती है। आपको रॉकेट ही बनाना है तो रॉकेट की टेकनॉलॉजी उसी भाषा से लेनी होगी। उसमें यदि संस्कृत के शब्द अनुवाद करके ले आऊं या मैं बोलूं कि मैं बोलियों से शब्द ले आऊंगा, यह संभव नहीं होगा। नए शब्द गढ़ने पड़ेंगे। तो दर्द उनका है तो दवा भी उनकी लीजिए। लेकिन कोशिश कीजिएगा कि हम अपने को, अपने समाज को फिर से नये सिरे से देख सकें। जो उसके दर्द हैं उसके लिए हम दवा, उसकी दवा, उसकी भाषा द्वारा दे सकें। उस पूरे समाज की लंबी यात्रा में कुछ हिस्से ऐसे हो सकते

नागयष्टि: अक्सर तालाबों में जलस्तर नापने के लिए कलात्मक स्तंभों का इस्तेमाल किया जाता है। इन्हें नागयष्टि कहते हैं।

हैं, जिसमें कुछ बाहर का दर्द हो और बाहर की दवा। पर सारी-की-सारी बाहर की दवा, बाहर की भाषा नहीं होगी। थोड़ी बहुत हर्बल की भी गुंजाइश होती है, आयुर्वेद की भी गुंजाइश होती है। आपके यहां यह काम अब शुरू हुआ है, बहुत पहले से ही कई संस्थाओं को इसमें काम करना था। मैं एक बार फिर धन्यवाद देता हूं तीन दिन में हमको अज्ञात संसार की यात्रा कराने के लिए।

अनुपम मिश्र: राजस्थान में पानी के स्रोतों पर महत्वपूर्ण काम किया है। 'राजस्थान की रजत बूंदें' और 'आज भी खरे हैं तालाब' किताबों के लेखक हैं। गांधी शांति प्रतिष्ठान, दिल्ली से जुड़े हैं।
यह लेख विज्ञान साहित्य समागम से साभार। **सभी चित्र**: 'आज भी खरे हैं तालाब' से।
यह लेख कोशिकीय एवं आण्विक जीव विज्ञान केन्द्र, हैदराबाद द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम के दौरान अनुपम मिश्र द्वारा दिए गए व्याख्यान पर आधारित है। इस कार्यक्रम में भागीदार लेखकों, वैज्ञानिकों के विचारों को *'विज्ञान, साहित्य समागम'* पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है।
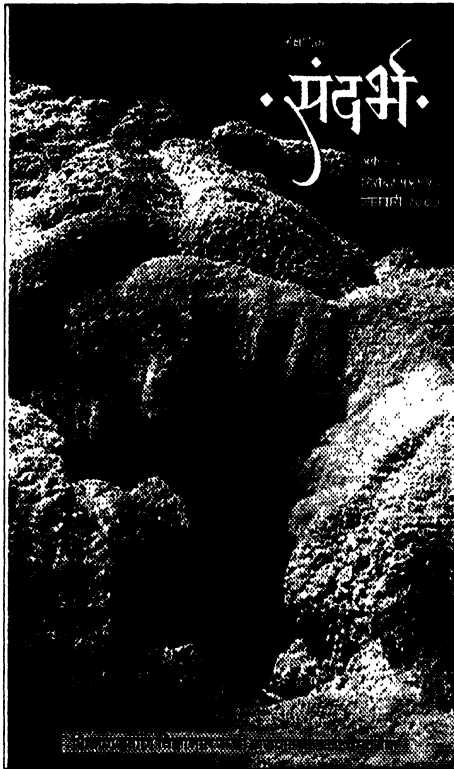
चार एक समान त्रिकोण बनाना

पिछले अंक में हमने आप से एक सवाल पूछा था कि 16 भुजाओं से बनी आकृति में से 4 भुजाएं इस तरह मिटानी हैं कि चार एक समान त्रिकोण ही बचने चाहिए और कुछ नहीं।

शायद इस सवाल के और भी हल हो फिलहाल हम इस सवाल का एक हल यहां दे रहे हैं।
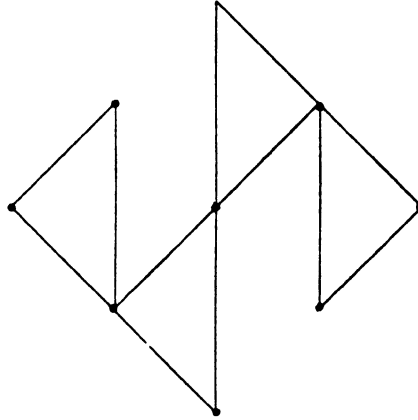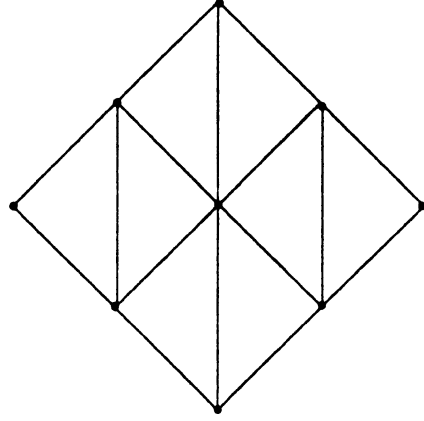
इस बार का सवाल :

फर्ज़ कीजिए आप किसी कार में सफर की तैयारी कर रहे हैं। कार के सभी दरवाज़े, खिड़कियां और हवा आने के सभी छेद बंद हैं। पिछली सीट पर एक बच्चा हवा से हल्की गैस से भरा एक गुब्बारा लिए बैठा है। गुब्बारा हवा में तैर रहा है। अचानक कार स्टार्ट होती है और आगे की ओर चल पड़ती है। अब आपको यह बताना है कि कार के आगे चल पड़ने से क्या गुब्बारा अपनी जगह बना रहेगा, या यह आगे की ओर जाएगा, या पीछे की ओर जाएगा?

आपके कारण समझाते हुए जवाब संदर्भ के पते पर भेजिए।

नाप जोखकर वेदियां बनाना
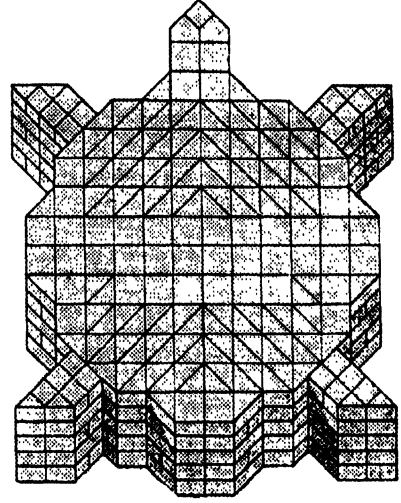
रामकृष्ण भट्टाचार्य

पुरोहित यह तय करते थे कि यजमान के लिए किस तरह की यज्ञ वेदी बनानी है। फिर कारीगर अपने गणित और औज़ारों की मदद से पुरोहितों की मांग के हिसाब से किस्म-किस्म की ईंटें बनाने में जुट जाते थे। इन्हीं ईंटों से नियम-कायदों का पालन करते हुए कारीगरों को वेदी बनानी होती थी।

शुल्व सूत्र का अध्ययन करते हुए ज्यामिति की उत्पत्ति की खोज बीन करने का अच्छा मौका मिलता है। दरअसल ज्यामिति की शुरुआत कतिपय मूल तत्वों या स्वयं सिद्ध कथनों से नहीं हुई थी – यूनान में भी इस तरह के निश्चित तत्व तो काफी बाद में विकसित हुए थे। शुरुआत तो हुई थी वेदियों के निर्माण में आने वाली कुछ दिक्कतों को सुलझाने के प्रयासों से। पुरोहितों ने कुछ संपन्न यजमानों के दिमाग में ये बात बैठा दी थी कि यदि वे बाज़ (श्येन) की आकृति वाली वेदी बनाकर यज्ञ करेंगे तो वे निश्चित तौर पर स्वर्ग में जाएंगे। ऐसा क्यों? पुरोहितों का जवाब था

कि "पक्षियों में श्येन ही सर्वोत्तम उड़ान भरता है; अतः यजमान स्वयं श्येन बनकर उड़ान भरे, तो अवश्य ही उड़कर स्वर्ग में पहुंच जाएगा।" (तैत्रीय संहिता, 5. 4. 11)।

यहां तक तो ठीक है। परंतु इस तरह श्येनाकार वेदी बनाना कोई आसान काम नहीं था। और इस वेदी के लिए कुछ कठोर नियम भी निर्धारित थे: इसमें ईंटों की पांच तहें होना चाहिए, प्रत्येक तह के अपने-अपने विशिष्ट लक्षण होंगे और पूरी वेदी घुटने की ऊंचाई की होनी चाहिए – न कम, न ज़्यादा। और अव्वल तो ईंटें तैयार करने का सवाल था। ये सारी ईंटें आज की तरह एकरूप नहीं होती थीं। आज तो हम आयताकार ईंटें बनाकर संतुष्ट हो जाते हैं मगर वेदी बनाने के लिए पहले तो तिकोनी, चौकोनी, पंचकोनी वगैरह ईंटें बनानी होती थीं और फिर उन्हें सही तरह से जमाना होता था। इसके लिए हुनर चाहिए और आकार व ढांचों की गहरी समझ चाहिए। अतः कारीगरों की मदद अनिवार्य थी।

चितियों को बनाना

तो सवाल यह है कि प्राचीन भारत में वे कौन-से कारीगर थे जिन्हें अपने कामकाज में ज्यामिति के ज्ञान की ज़रूरत पड़ती थी। जैसा कि हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं, कात्यायन शुल्व सूत्र के टीकाकारों ने शिल्पी और स्थपति का उल्लेख किया है। शिल्पी शब्द का अर्थ होता है कोई भी दस्तकार – कुशल बढ़ई, जौहरी, सुनार या शायद अभिनेता, नर्तक, संगीतकार, चिकित्सक भी इसके दायरे में आ जाते हैं। शुल्व के छात्र निश्चित रूप से इन सबसे तो मदद की गुहार नहीं करेंगे।

विविध किस्म की ईंटें
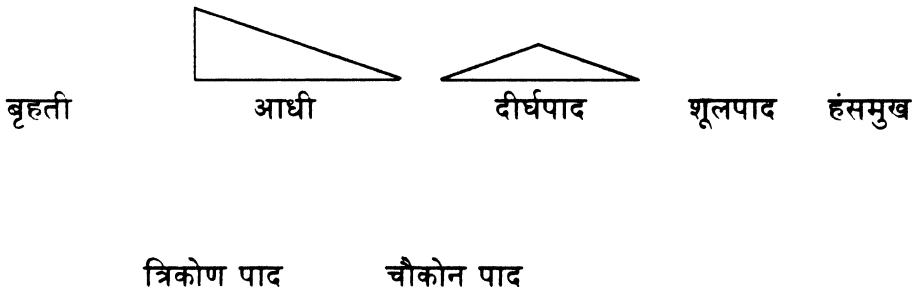
ये ईंटें ज्यामितीय अनुपात के हिसाब से नहीं बनाई गईं हैं। यहां इन्हें दिखाने का उद्देश्य मात्र इतना है कि इन ईंटों का आकार कैसा होता था, यह समझ में आ सके।
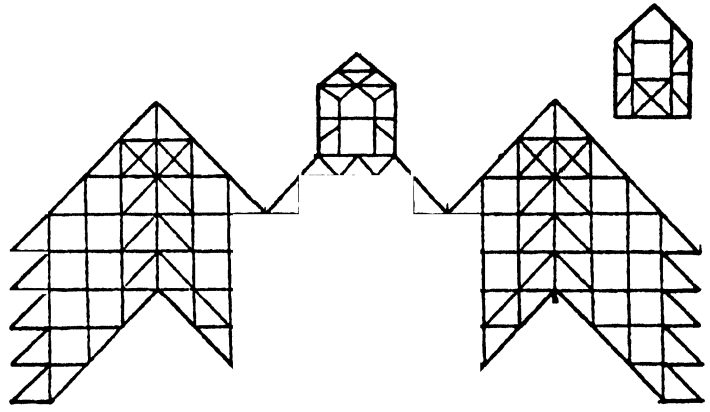
श्येन चिति की पहली परत: बाज़ के आकार की चिति बनाते समय बाज़ को आत्मा, पंख, शीर्ष, पूंछ आदि हिस्सों में बांट लेते हैं। इस पूरी चिति का क्षेत्रफल पहले ही गणना कर मालूम कर लिया जाता था। यहां दिखाई गई श्येन चिति का कुल क्षेत्रफल 108000 अंगुल या 7.5 पुरुष है।
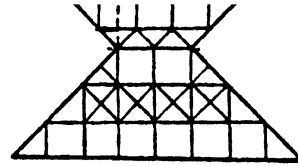
चिति की पहली परत को बनाने में 69 चतुर्थी, 1 हंसमुखी, 72 आर्धा, 52 त्रिकोण पाद और 6 चौकोन पाद किस्म की ईंटों का इस्तेमाल किया गया है। चिति की इस परत को बनाने में कुल 200 ईंटें उपयोग में लाई गईं हैं।
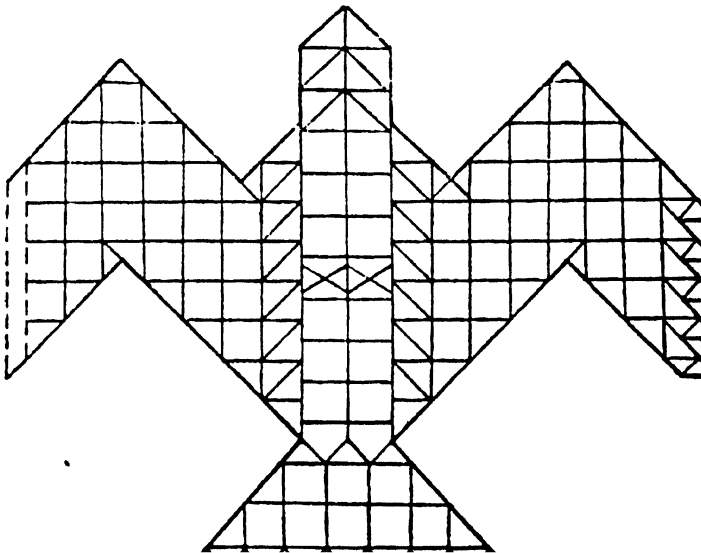
श्येन चिति की दूसरी परत: चिति की इस परत को बनाने में 68 चतुर्थी, 6 हंसमुखी, 70 आधी और 56 त्रिकोण पाद किस्म की ईंटों का इस्तेमाल किया गया है। यहां भी ईंटों का कुल जोड़ 200 ही है।

हम मान सकते हैं कि शुल्व छात्र के लिए इनमें से चार तरह के दस्तकार उपयुक्त व उपयोगी होंगे: ईंट बनाने वाले, मिस्त्री, रथ बनाने वाले और बढ़ई।

प्रथम दो की उपयोगिता तो स्वत: स्पष्ट है। जब तक पुरोहित के पास विशिष्ट किस्म की ईंटें बनवाने और उन्हें उठवाकर सही तरह से जमवाने की व्यवस्था न हो, और जब तक एक प्रभावशाली चिति न बने, तब तक यजमान को यह यकीन कैसे दिलाया जा सकता है कि इसकी मदद से वह अपने शत्रुओं को परास्त कर सकेगा या अपने पुरखों की दुनिया में स्थान पा सकेगा? (शत्रुओं को परास्त करने के लिए प्रउग, उभयत: प्रउग तथा रथचक्र चिति का प्रावधान है, जबकि पुरखों की दुनिया में स्थान सुनिश्चित करने के लिए आइसोसेलस ट्रैपीज़ियम आकार की श्मशान चिति की सिफारिश की जाती है।)

ईंट बनाना भी कोई आसान काम नहीं है। इसके लिए मिट्टी तैयार करना पड़ता है, भट्टी बनानी होती है और तापमान को नियंत्रित करना होता है। श्येन चिति में ईंटों की पांच तहें होती हैं और प्रत्येक तह में 200 ईंटें लगाई जाती हैं। सामान्य आकार-प्रकार की ईंटों के अलावा विशेष किस्म की ईंटें भी होती हैं जिनके नाम भी विचित्र होते हैं: मसलन हंसमुखी, शूलपाद्या, चतुर्थी, अष्टमी वगैरह। इस बात का भी ख्याल रखना होता है कि ईंटें कम-ज़्यादा न पक जाएं। ईंट बनाते हुए इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि सूखने व भट्टे में पकाने के दौरान उनकी साइज़ थोड़ी घट जाएगी। लिहाज़ा यज्ञ के अनुष्ठान में ईंट बनाने वाले और मिस्त्री की उपस्थिति तो अनिवार्य लगती है। इस संदर्भ में गौरतलब है कि भारत में ईंट बनाने की कला बहुत पुराने ज़माने से मौजूद रही है। (उत्तर व उत्तर-पश्चिमी भारत में वैदिक पूर्व सभ्यता की शहरी बस्तियों के मकान व अन्य सभी इमारतें ईंटों की बनी थीं) अत: यह कोई अचरज की बात नहीं है कि बाद के काल में भी यहां ईंट बनाने व जुड़ाई के मामले में अच्छी कुशलता उपलब्ध रही। जब बाद में खानाबदोश 'आर्य' यहां बसे और उन्होंने अपने नए कर्मकाण्ड विकसित किए तो उन्होंने अपने अतीत की कई चीज़ें तो जारी रखीं ही, साथ में कई नई बातें भी अपनाईं। सोमयज्ञों में ईंटों का उपयोग इसी तरह का एक नवाचार था।

बहरहाल, रथ निर्माता और बढ़ई (सूत्रधार) की उपस्थिति की वजह शायद इतनी स्वत: स्पष्ट नहीं है। हड़प्पा काल से ही हमें खिलौना गाड़ी मिलती है; उस समय पहिया बनाना व उपयोग करना आम बात थी। वैदिक लोग भी घोड़े से चलने वाले रथ और गाड़ियां बनाते थे। ऋग्वेद में रथ शब्द का प्रयोग

कई मर्तबा हुआ है। दरअसल रथ निर्माता को बढ़ई से अलग एक समूह इसलिए माना गया क्योंकि वह विशेषज्ञ होता था जबकि बढ़ई को विविध कार्यों में लगाया जा सकता था। इसलिए रथकार व तक्षन को अलग से प्रणाम करने का उल्लेख मिलता है।[1]

रथ निर्माता और बढ़ई दोनों ही अपने कामकाज में मापन के लिए रस्सी का उपयोग करते थे – शुल्व शब्द का यही अर्थ है। (अलबत्ता, यह गौरतलब है कि शुल्व सूत्र की रचनाओं में शुल्व शब्द का प्रयोग मात्र शीर्षकों में ही किया गया है। ग्रंथों के पाठ में प्रचलित शब्द रज्जु का प्रयोग ही देखने को मिलता है।)

तर्क अपने-अपने

यहां हम थोड़ी देर के लिए अपना रास्ता छोड़कर इधर-उधर नज़र डालेंगे। शुल्व के विज्ञान के एक अत्यंत श्रेष्ठ अध्ययन (1932) के लिए हम डॉ. बिभूतिभूषण दास दत्ता (1888-1958) के बहुत ऋणी हैं। उनकी यह रचना उच्च कोटि की है। दत्ता गणित व संस्कृत, दोनों में दक्ष थे (वे डॉक्टर ऑफ साइन्स थे तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय में गणित पढ़ाते थे)। शुल्व के बारे में अंग्रेज़ी, फ्रांसिसी व जर्मन में जो कुछ लिखा गया था, वह उन्होंने पढ़ डाला था। शुल्व सूत्रों की मुद्रित रचनाओं से वे संतुष्ट नहीं हुए और शुल्व सूत्र व उनकी टीका की सारी उपलब्ध पाण्डुलिपियों का अध्ययन किया। शुल्व की ज्यामिति के बारे में उनकी पुस्तक आज भी एक प्रतिमान है। इस विषय का कोई भी विद्यार्थी इसे अनदेखा नहीं कर सकता। उनके तरीके पर सवाल करना शायद हिमाकत कहा जाएगा। परंतु पूरी विनम्रता के साथ मैं उनके एक निष्कर्ष के जानिब और उनके प्रस्तुतिकरण को लेकर दो आपत्तियां उठाना चाहता हूं।

पहले उनका निष्कर्ष। कात्यायन शुल्व सूत्र पर कर्क के भाष्य और महिधर की वृत्ति (संक्षिप्त टिप्पणी) में उल्लेखित जुम्ले सम-सूत्र-निरंचक (एक सी रस्सी खींचने वाला) के बारे में लिखते हुए दत्ता ने कहा था कि इस जुम्ले पर[2] "ज़्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए। कारण यह है कि हमें यूनानी दार्शनिक डेमोक्रिटस (लगभग 400 ई. पू.)[3] के लेखन में भी इसी तरह का एक जुम्ला 'हार्पेडोनाप्टे' (रस्सी-खींचने वाले) मिलता है। ऐसा प्रतीत होता कि यह यूनानी ज्यामिति पर हिन्दू प्रभाव का एक उदाहरण है। क्योंकि इस यूनानी जुम्ले में जो विचार है वह न तो यूनानी है, न ज्यामिति में उनके जाने-माने गुरुओं अर्थात् मिस्त्रियों का है, बल्कि यह तो विशिष्ट रूप से हिन्दू मूल का विचार है। पाली साहित्य में राजा के भूमि सर्वेक्षक के लिए राजुक और रज्जुग्राहक (रस्सी

पकड़ने वाले) शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें से प्रथम शब्द (राजुक) सम्राट अशोक (250 ई.पू.) के शिलालेखों में बहुतायत से मिलता है। अपेक्षाकृत बाद के शिल्प शास्त्रों में सर्वेक्षणकर्त्ता को सूत्र-ग्राही या सूत्र-धार के नामों से संबोधित किया गया है और उसे रेखा-ज्ञ (रेखा को जानने वाला) कहा गया है।''[1]

इस उद्धरण का दूसरा वाक्य ऐसा लगता है कि न्यूटन के गति के तीसरे नियम को इतिहास पर लागू करने का उदाहरण है, ''प्रत्येक क्रिया के बराबर किन्तु विपरीत प्रतिक्रिया होती है''। यूरोप के विद्वानों के यूनानमोह के विरुद्ध प्रतिक्रिया देते हुए दत्ता दूसरी अति पर पहुंच गए हैं। इस बात का नाममात्र भी प्रमाण नहीं है कि यूनानी लोगों ने ज्यामिति भारतीयों से सीखी थी। दत्ता ने रस्सी जैसे तुच्छ साधन को ज़रूरत से ज़्यादा महत्व दे दिया है और इसे भू-सर्वेक्षणकर्त्ता का औज़ार मान लिया है। किन्तु सम्राट अशोक के शिलालेखों में राजुक शब्द अधिकारियों के एक वर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है; संभवत: ये ज़िलों के प्रशासक थे, भू-सर्वेक्षणकर्त्ता नहीं।[5] अर्थात् राजुक का मूल अर्थ जो भी रहा हो, मगर अशोक के समय तक इसका भू-सर्वेक्षण से कोई संबंध नहीं रह गया था। और डेमोक्रिटस साफतौर पर 'मिस्र के तथाकथित हार्पे डोनाप्टाई' का ज़िक्र करता है। तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उस यूनानी शब्द (यूनानी में हार्पेडोनाप्टाई या लैटिन में हार्पेडोनाप्टे) में निहित विचार न तो यूनानी है, न मिस्री?

यदि हम यह मान लें कि मेसोपोटेमिया और मिस्र की तरह भारत और यूनान में भी ज्यामिति की उत्पत्ति समांतर व स्वतंत्र रूप से हुई और मात्र एक शब्द 'सम-सूत्र-निरंचक' के आधार पर 'यूनानी ज्यामिति पर हिन्दू प्रभाव' का आग्रह छोड़ दें तो शायद हम ज़्यादा ठोस धरातल पर होंगे। वैसे भी यह शब्द शुल्व सूत्र की किसी रचना में नहीं मिलता। यह शब्द मात्र कर्क और महिधर के भाष्य में मिलता है। ये महिधर 'वेदांतदीप' और 'मंत्र-महोदधाई' के लेखक हैं तथा इनका काल सोलहवीं सदी का है।

दूसरी बात यह है कि शब्द सूत्र-धार (या सूत्र-धर) का अर्थ रस्सी पकड़ने वाला नहीं है जैसा कि मोनिएर मोनिएर – विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेज़ी शब्दकोश में सरसरी तौर पर कह दिया है। इस शब्द का ज़्यादा चलन 'वास्तुविद या बढ़ई' के लिए था। दरअसल वर्तमान शब्द सुतार इसी से बना है। तीसरी बात यह है कि शिल्पशास्त्र की रचनाओं में (कम-से-कम मयमत में) 'सूत्रग्राही' या 'सूत' शब्द का प्रयोग भू-सर्वेक्षण कर्त्ता के
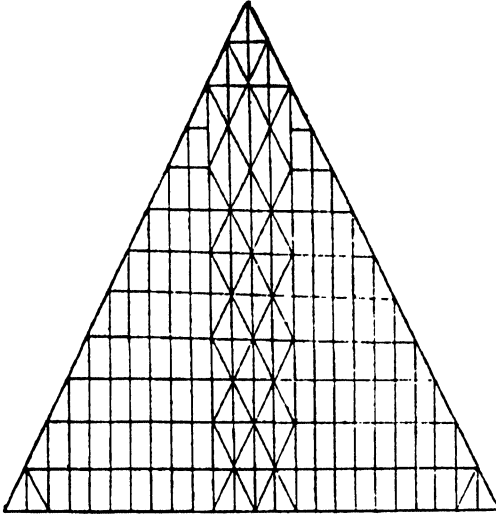
प्रउग चितिः पहली परत
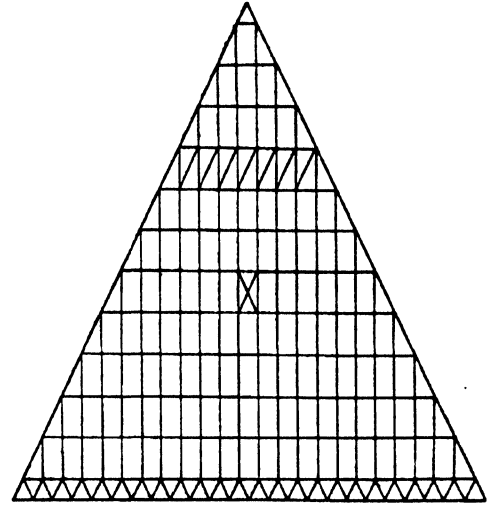
दूसरी परत

प्रउग चितिः यानी त्रिकोण वेदी। प्रउग शब्द का मूल अर्थ है – रथ के डंडे के सामने का हिस्सा, जो आकार में तिकोना होता है। इस चिति की पहली परत को बनाने के लिए 88 बृहती, 112 आधी किस्म की ईंटों का इस्तेमाल किया गया है। एक पूरी ईंट की लंबाई 38 अंगुल 24 तिल है और चौड़ाई 19 अंगुल 12 तिल है। आधी ईंट का आकार एक पूरी ईंट का आधा होता है।
प्रउग चिति की दूसरी परत को बनाने में 114 बृहत ईंटें, 34 आधी, 2 दीर्घपाद, और 50 शूलपाद ईंटों का इस्तेमाल किया गया। खास बात यह है कि इन दोनों परतों को बनाने के लिए हर परत में 200 ईंटों का उपयोग किया गया है।

लिए नहीं बल्कि 'हरफनमौला' के अर्थ में हुआ है।

कारीगर-पुरोहित के काम

आइए अब लौटते हैं अपने मुद्दे यानी बढ़ई पर। यदि हम चितियों के नामों पर गौर करें तो पाते हैं कि उनमें से कम से कम तीन नामों का संबंध रथ (या गाड़ी) से हैः प्रउग चिति, जो एक समबाहु त्रिभुज के आकार की होती है; उभयतः प्रउग चिति (दोहरी प्रउग) जो समचतुर्भुज के आकार की होती है; और रथचक्र चिति जो गोल होती है। अर्थात् शुल्व सूत्रों में मानकर चला गया है कि रथ निर्माण का हुनर मौजूद है। अर्थात् कर्क व महिधर ने अपने भाष्यों में कात्यायन शुल्व सूत्र के जिन श्लोकों

को उद्धरित किया है उनमें शिल्पी के अंतर्गत रथकार शामिल हैं।[6]

फिर पुरोहित कहां आते हैं? उनकी भूमिका दो कामों में है – एक तो सोमयज्ञ नामक वैदिक कर्मकाण्डों में अग्नि वेदी की प्रथा को शामिल करवाने में और दूसरे, ऐसी अग्नि वेदियों के निर्माण हेतु नियम-कायदे बनाने में। गौरतलब बात यह है कि शुल्व रचनाएं पारंपरिक सूत्रशैली में और इतने गूढ़ रूप में लिखी गई हैं कि किसी गुरु या भाष्यकार की व्याख्या के बिना इन्हें समझ पाना लगभग असंभव होता है, इसके विपरीत बाद में लिखी गई शिल्पशास्त्र की रचनाएं गैर-ब्राह्मणों (अत: कम महत्वपूर्ण व्यक्तियों) द्वारा लिखी गईं। ये रचनाएं पाणिनी के व्याकरण का पूर्णत: अनुकरण भी नहीं करतीं।

भाषा और औज़ार

शुल्व सूत्रों की संक्षिप्त व सूत्र शैली का कारण जानने के लिए ज़्यादा दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। हमारे पूर्वज हर चीज़ को याद रखने में विश्वास करते थे। वे इन्हें विस्तार में लिपिबद्ध करना नहीं चाहते थे। लंबे-लंबे गद्यांशों की अपेक्षा छोटे-छोटे सूत्रों व पद्यों को याद करना ज़्यादा आसान होता है। इसके अलावा एक फायदा यह भी है कि इस तरह की संक्षिप्तता की बदौलत ज्ञान को ऐरों-गैरों से गुप्त भी रखा जा सकता है। जब तक समझाया न जाए, ये सूत्र अज्ञेय ही रहेंगे।

इस तरह की ब्राह्मणीय शैली के बावजूद शुल्व सूत्र मूलत: कामकाजी हैं। चार रचनाओं में से सबसे प्राचीन व सबसे विस्तृत बौधायन शुल्व सूत्र का आरंभ रैखीय मापन की इकाइयों से होता है और इसके बाद सीधे निर्माण की समस्याओं की चर्चा शुरू हो जाती है: कि एक वर्ग कैसे बनाया जाए। मात्र निम्नलिखित उपकरणों का उपयोग करने का प्रावधान है:

1. शंकु (खूंटा) और 2. रज्जु। कभी-कभार एक तीसरे उपकरण वेणु (बांस की छड़) का भी उल्लेख है।[8]

जहां तक रज्जु (रस्सी) का सवाल है, भारद्वाज श्रौत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि कौन-सी घास को बटकर रस्सी बनाई जाए: "इसी बर्हि (घास) के तीन या पांच टुकड़ों से वह एक रस्सी बनाए" (1.4.4) "इसी विधि से उसे दर्भ की (जड़ समेत या जड़ के बगैर) पत्तियों की विषम संख्या लेकर उनसे शुल्व (रस्सी) बनानी चाहिए।" (1.5.1) कर्क और महिधर दोनों ही अपने-अपने भाष्य में निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख करते हैं: "आचार्य कात्यायन कहते हैं कि मापन रज्जु हमेशा साबुत होनी चाहिए तथा मंजु घास को सन, दर्भ और बल्बजा घास के साथ मिलाकर बनाई जानी चाहिए।"[9]

इसी तरह की हिदायतें शंकु के मामले में भी दी गई हैं "बलि के प्रकरणों में, उपरोक्त गणुधर्मों वाला शंकु (अर्थात लकड़ी के किसी पुराने, गठानमुक्त 12 अंगुल लंबे, 6 अंगुल परिधि वाले लट्ठे से बना) हरी लकड़ी के टुकड़े से बनाया जाना चाहिए। शंकु की लंबाई 9 अंगुल हो। इसकी आधी लंबाई को धरती में गाड़ दें। एक मोगरी (मुद्गर), जो एक ही लकड़ी से बनी हो, वर्गाकार हो, तथा जो शंकु को भलीभांति ज़मीन में धंसा सके, 16 अंगुल लंबी होनी चाहिए। इसका निर्माण लट्ठे के मध्यभाग से प्राप्त लकड़ी से करना चाहिए।"[10]

बांस की छड़ी का इस्तेमाल (रस्सी के साथ) वृत्त खींचने के लिए किया जाता है। बांस की इस छड़ी (वेणु) में तीन सुराख होते हैं, एक-एक सुराख दोनों सिरों पर और एक सुराख केन्द्र में। इसकी मदद से दो अलग-अलग त्रिज्या वाले वृत्त बनाए जा सकते हैं।

इन सबसे एक स्पष्ट निष्कर्ष उभरता है। यदि पुरोहितों से यह उम्मीद थी कि उपरोक्त निर्देशों के मुताबिक वे स्वयं ईंटें बनाने, रस्सियां बनाने, शंकु बनाने, मुद्गर बनाने और बांस की छड़ियां बनाने का काम करेंगे तो लाज़मी होता कि वे सिर्फ मंत्रों को कण्ठस्थ करके उच्चारित करने में ही नहीं बल्कि हस्तकला में दक्ष हों। इस संदर्भ में महाभारत के आदिपर्व में जनमेजय के सर्पसत्र (नाग यज्ञ) के प्रसंग से पता चलता है कि सारे पुरोहितों के सम्मिलित ज्ञान की अपेक्षा एक कुशल कारीगर यज्ञ की बारीकियों को ज़्यादा जानता है।"[11]

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय कहते हैं, "वैदिक संस्कृति का कोई अनुरागी कह सकता है कि शायद कुछ पुरोहितों में, ईंट बनाने व बिछाने की सैद्धांतिक ज़रूरतों से प्रेरित होकर इन कामों में दिलचस्पी उत्पन्न हुई होगी और इस तरह से उन्होंने शुल्व-गणित के विकास में योगदान दिया होगा। अलबत्ता इस संकल्पना (को स्वीकार करने) से पहले यह स्वीकार करना होगा कि यह काम वे पुरोहितों की हैसियत से नहीं बल्कि तकनीशियन व दस्तकार की हैसियत से ही कर पाए होंगे। इसके लिए उन्हें धर्मशास्त्र की उन परिपाटियों का उल्लंघन करना पड़ा होगा जो शारीरिक श्रमिक को हिकारत की नज़र से देखती।"[12]

ईंटों की जगह छंदवेदियां

इस तरह की अग्नि चितियों के निर्माण में लगने वाली शारीरिक मेहनत से बचने के लिए वैदिक पुरोहित कभी-कभी एक सरल रास्ता अपनाते थे; चिति का निर्माण असली ईंटों की बजाए छंदों से कर लेते थे। मसलन तैत्रीय संहिता में कहा गया है: "जिसे गोधन की इच्छा है, वह छंदश्चित की

थप्पियां लगाए; छंद ही गाएं हैं और वह गायों से मालामाल हो जाएगा।" (5.2.11.1) बौधायन शुल्व सूत्र में भी सलाह दी गई है: "तीन हज़ार ईंटों की अग्नि निर्मित करने के पश्चात् यजमान छंदश्चित का निर्माण करे" (2.81)[13] थिबाट इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं: "छंदाश्चित वह अग्नि है जो इस्तक (ईंटों) की बजाए मंत्रों से बनाई गई है। अग्नि की आकृति ज़मीन पर खींच दी जाती थी और उसके बाद अग्निचयन का पूरा अनुष्ठान किया जाता; किन्तु वास्तविक ईंटें रखने की बजाए पुरोहित धरती पर इन स्थानों को स्पर्श करता जहां ईंट रखी जानी चाहिए और साथ में उपयुक्त मंत्र पढ़ देता।" बौधायन यह भी कहते हैं कि छंदश्चित का आकार बाज़ (श्येन) के समान होता है क्योंकि श्येनचिति में समस्त चितियों का समावेश है।

आगे चलकर तो छंदश्चित का स्थान भी मनोनय या मनश्चित ने ले लिया। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में कई तरह की वैचारिक अथवा ख्याली अग्नियों का उल्लेख है (3.3.44.-52)। (ब्रह्मसूत्र वेदांत की विभिन्न शाखाओं का मूल ग्रंथ है।) लेकिन उपनिषद् के ऋषियों को तो छंद रूपी ईंटों या मात्र ख्याली ईंटों से नहीं बल्कि गारे-मिट्टी की बनी सचमुच की ईंटों से काम करना पड़ता था। मृत्यु के देव यम नचिकता से कहते हैं: "ओ नचिकेता, स्वर्ग के लिए अनूकूल अग्नि के विषय में अपने ज्ञान के आधार पर, मैं तुम्हें इसके बारे में बताता हूं।" और कठोपनिष्द में कहा गया है: "मृत्यु ने उसे विश्व के स्रोत अग्नि के विषय में, ईंटों के प्रकार व संख्या के विषय में (या इष्टका यावतीर्वा यथावा) बताया और यह भी बताया कि अग्नि के लिए इन्हें किस तरह जमाया जाना चाहिए। और उसने (नचिकेता ने) इन्हें समझते हुए शब्दश: दोहराया।" (1.1.14-15) परंतु जब हम वेदांतवाद पर आते हैं तो अग्नि चिति से संबंधित हर चीज़ विचारों में सिमट जाती है, वास्तविक ईंटों की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है:

"सूचक चिन्हों (लिंग) के प्राचुर्य के चलते (मस्तिष्क, वाणी, अग्नि-रहस्य आदि की) अग्नि का किसी कर्मकाण्ड में कोई स्थान नहीं है क्योंकि ये चिन्ह संदर्भ से ज़्यादा शक्तिशाली हैं। (यह बात जैमिनी ने भी कही थी)

संदर्भ की शक्ति से, वैचारिक अग्नि का उपयोग पूर्व में निर्देशित वास्तविक अग्नि के विकल्प के रूप में किया जाना चाहिए। इनमें (सोम रस के) काल्पनिक पान जैसी कुछ रीतियां शामिल हैं।" (3.3.44-45) इस निर्देश के समर्थन में कुछ नज़ीरें आदि भी प्रस्तुत की गई हैं। (3.3.46-49)

बहरहाल, शुल्व सूत्र तो वास्तविक, ठोस ईंटों से बंधे हैं और उन्हें इनके माप वगैरह देने ही होते हैं। ये माप इत्यादि इनसे संबंधित मंत्रों के रहस्यों से स्वतंत्र हैं। अगले खण्ड में हम इनको इसी स्वतंत्र रूप में देखेंगे।[14]

रामकृष्ण भट्टाचार्य: आनंद मोहन कॉलेज, कलकत्ता के अंग्रेज़ी विभाग में रीडर तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी पाठ्यक्रम में अतिथि लेक्चरर। विज्ञान लेखन में रुचि।

अनुवाद: सुशील जोशी। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम एवं स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। साथ ही स्वतंत्र विज्ञान लेखन एवं अनुवाद करते हैं।

फुटनोट एवं संदर्भ ग्रंथ:

1. जियोमेट्री एकोरडिंग टू शुल्व सूत्र, आर. पी. कुलकर्णी; प्रकाशक: वैदिक संशोधन मंडल, पुणे, 1983, पृष्ठ 13-14
2. 'शुल्व सूत्र ऑफ कात्यायन', कर्क और वृति महिधर का भाष्य के साथ। संपादन पं. गोपाल शास्त्री नेने, बनारस। प्रकाशक: द चौखंबा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस, 1936, पृष्ठ 36 (खंड 2) और पृष्ठ 38 (खंड 1)
   कात्यायन शुल्व सूत्र, एम. डी. खांडेकर, प्रकाशक: वैदिक संशोधन मंडल, पुणे, 1974
3. लेख के भाग-1 में डेमोक्रेटस के संवाद के दौरान स्रोत का ज़िक्र किया गया है।
4. द साइंस ऑफ द शुल्व; विभूति भूषण दत्त, प्रकाशक: कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1932, (1991 पुन: मुद्रित) पृष्ठ 9
5. देखिए, इंसक्रिप्शन ऑफ अशोक; डी. सी. सरकार, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1975, पृष्ठ 75
6. कर्क के खंड 29 मे उद्धरण "जो इनसे बड़े नापों के बारे में जानकारी चाहता हो वह किसी सुनार या इंजीनियर से संपर्क करे।" खांडिलकर द्वारा अंग्रेज़ी में अनुदित पुस्तक का नोट-2, पृष्ट 37 भी देखें। नोट-3 पृष्ठ 44
7. माडर्न रिव्यू; गंगानाथ झा, 1934, हिन्दू आर्किटेक्चर, को पी. के. आचार्य, पृष्ठ 426, 427 और 435 में जैसा उद्धरित किया है।
8. बौधायन शुल्व सूत्र, अंग्रेज़ी अनुवाद एवं संपादन, जी. थिबाट, प्रकाशक: द रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ एंशिएंट साइंटिफिक स्टडीज़, नई दिल्ली, 1968, खंड 2, 52-57 एवं पृष्ठ 95-96
9. कर्क द्वारा उद्धरित, श्लोक, बनारस संस्करण (नोट-3) खंड 13 सी डी, 14 ए बी, खांडिलकर द्वारा संपादित, खंड 14, पृष्ठ 42
10. देखिए कर्क वी. वी. 9, 11 ए बी, (नेने पृष्ठ 36), खांडिलकर द्वारा संपादित, पृष्ठ 41
11. इसका उल्लेख हम संबंधित खंड में पहले ही कर चुके हैं।
12. मैथेमेटिक्स इन द मेकिंग इन ऐंशिएंट इंडिया, जी. थिबाट, की किताब में देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा लिखी गई भूमिका, प्रकाशक: के. पी. बागची एंड कम्पनी, कलकत्ता, 1984, पृष्ठ 8
13. उपरोक्त, पृष्ठ 96 बौधायन शुल्व सूत्र, 2.81, 2.83
14. देखिए, बौधायन शुल्व सूत्र 3.10, मानवीय एवं दैवी खंड से।

एकलव्य का प्रकाशन

बारिश क्यों होती है? चाँद पर कैसे जाते हैं? इस चिड़िया का नाम क्या है? बुखार क्यों आता है? ऐसा क्यों? वह कैसे? यह क्या? . . . . .

ऐसे ही ढेरों सवाल आपके बच्चे भी आपसे पूछते होंगे। और आप ज़रूर चाहते होंगे कि उन्हें इनका माकूल जवाब मिले। उनके बढ़ते मन-मस्तिष्क को कुछ पढ़ने, कुछ सोचने, कुछ रचने और अपने सवालों के जवाब खुद ढूँढने की प्रेरणा मिले।

चकमक भी यही चाहती है कि ऐसी प्रेरणा और ऐसे मौके हर बच्चे को मिलें। इसीलिए इन्हीं बच्चों की रचनाओं को जगह देते, इनके सवालों के जवाब ढूँढते, हर अंक में कुछ करने, कुछ बनाने की सामग्री संजोते यह आज अपना 14 सालों का सफर पूरा करके 176वें अंक में पहुँच चुकी है।

आप भी अपने बच्चे को एक अच्छा साथी दे सकते हैं . . .
चकमक का तोहफा देकर।

एक अंक : 10 रुपए **वार्षिक : 100 रुपए** **आजीवन : 1000 रुपए**

अपने ड्राफ्ट या धनादेश **'एकलव्य'** के नाम पर ई–1/25, अरेरा कॉलोनी, भोपाल 462 016 (म. प्र.) के पते पर भेजें।

सोने के दांत वाला सांप

जे. बी. एस. हाल्डेन
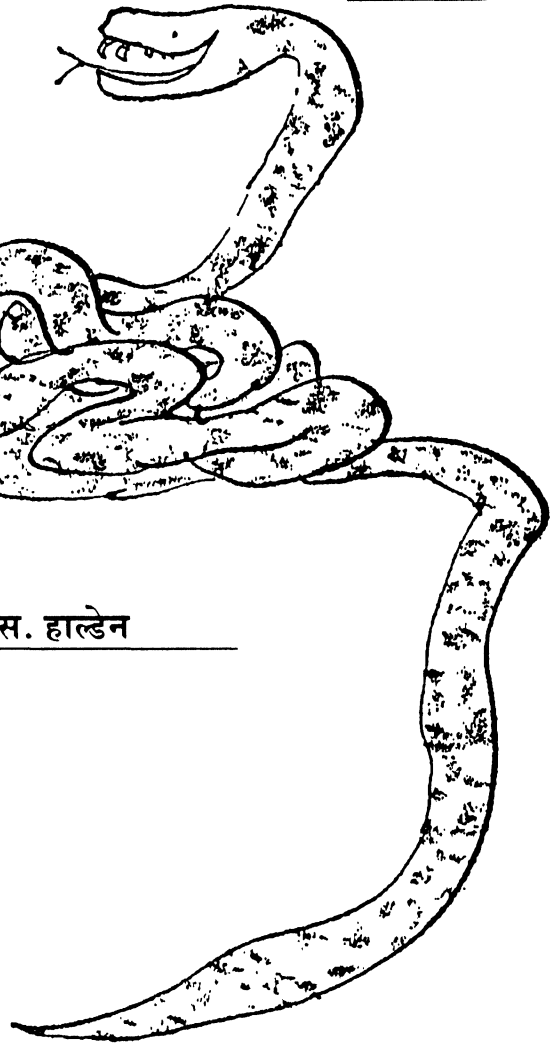
किसी समय की बात है – ब्राज़ील में 'मानोस' नामक स्थान पर पाउलो मारिया एनकारनको एस्पलेंडिडो नाम का एक बहुत अमीर आदमी रहता था। उसके पास सोने की दो खदानें थीं और एक चांदी की। आप सोचते होंगे कि चांदी की खदानों की अपेक्षा सोने की खदानों से ज़्यादा पैसा मिलता होगा, क्योंकि सोना चांदी से ज़्यादा मंहगा होता है; लेकिन हमेशा ऐसा नहीं होता। सोने की खदानों से जितना पैसा आता है उससे कहीं ज़्यादा पैसा उनके अंदर चला जाता है, क्योंकि सोने को पाने के लिए लोग खदानें खोदते ही जाते हैं और कई दफा ऐसी जगह भी खोद डालते हैं, जहां खदान खोदना लाभप्रद नहीं होता।

सर एस्पलेंडिडो की खदानें इस तरह की नहीं थीं। उसे इनसे भी ठीक-ठाक पैसा मिल जाता था, लेकिन चांदी की खदान से उसे ढेरों पैसा मिलता था।

उसके इतना ज़्यादा अमीर होने का एक कारण यह भी था कि वह अपनी खान में काम करने वाले मज़दूरों को बहुत ही थोड़ी मज़दूरी देता था, इसलिए लोग उसे ज़्यादा पसंद नहीं करते थे।

जिन लोगों के पास ज़्यादा पैसा होता है, वे उसे अलग-अलग तरह से खर्च करते हैं। कुछ लोग स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, पुस्तकालय आदि बनवाते हैं, जो आम जनता के लिए उपयोगी होते हैं। कुछ लोग हीरे जवाहरात और रेस के घोड़े खरीदते हैं जिनका किसी के लिए कोई उपयोग नहीं होता। सर एस्पलेंडिडो दूसरी वाली किस्म का आदमी था। वह इंग्लैंड के अमीरों की तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की कीमती चीज़ें खरीदने में अपना पैसा खर्च किया करता था। जहां वह रहता था, वहां की सड़कें बहुत खराब थीं। उन पर मोटर चलाना आसान नहीं था, इसलिए उसके पास सिर्फ एक कार थी।

लेकिन उसके पास तीन मोटर-बोट थीं, क्योंकि ब्राज़ील के उस भाग में लोग, सड़कों के स्थान पर नदियों का प्रयोग ज़्यादा करते हैं। 'मानोस' ऐसी जगह स्थित है, जहां अमेज़न नदी रियो-निग्रो नदी से मिलती है, इसलिए वहां नाव चलाने के लिए गहरा पानी है। एस्पलेंडिडो की मोटर-बोट के सभी कलपुर्जे चांदी के बने थे। ऐसा उसने लोगों पर शान जमाने के लिए किया था; और इसीलिए उसने अपनी पत्नी के लिए हीरे के कड़े बनवाए थे। उसने खूब बड़े कड़े बनवाए थे, क्योंकि वह बहुत मोटी थी। और अपने घर के अंदर की सभी चीज़ें, अपनी खानों से मिलने वाले सोने से ही बनवाई थीं। उसके दांत साफ करने वाले ब्रश का हैंडिल सोने का था। चम्मच, कांटे, ऐश-ट्रे, साबुन-दानियां और यहां तक कि दरवाज़ों के हैंडिल भी सोने के बने थे। हफ्ते के सातों दिन वह सोने की अलग-अलग घड़ियां पहनता था।

उसके पास बहुत से जानवर थे जिन्हें वह अपने निजी चिड़ियाघर में रखता था। मेरे विचार से उसमें केवल एक ही अच्छी बात थी, वह थी उसका जानवरों के प्रति प्रेम; और एक ऐसा व्यक्ति जिसे जानवरों से प्रेम होता है कभी भी पूरी तरह बुरा तो नहीं हो सकता। उसके पास ब्राज़ील में पाए जाने वाले चूहे से बड़े सभी तरह के जानवर थे।

उसके पास सात मगरमच्छ थे, तीन जगुआर थे और दो एनाकोंडा थे जो कि ब्राज़ील में पाए जाने वाले बड़े सांप होते हैं। एनाकोंडा अजगर जैसे ज़हरीले नहीं होते, लेकिन ये आदमी के चारों ओर लिपट कर उसे खत्म कर सकते हैं। ये अच्छे तैराक भी होते हैं।

उनमें से एक मादा सांप थी। एस्पलेंडिडो, उसके अंडे उबलवाकर, सोने के प्याले में, सोने के चम्मच से खाता था और कहता था कि ये बहुत अच्छे होते हैं। अब हो सकता है ये अंडे बिल्कुल भी अच्छे न होते हों। एस्पलेंडिडो को तो शेखी बघारने की इतनी लत थी कि वह शेखी में कुछ भी कह देता होगा। मैं तो कुछ कह नहीं सकता क्योंकि मैंने कभी ऐसे अंडे खाए नहीं हैं; परन्तु मैं एक ऐसे व्यक्ति को ज़रूर जानता हूं जिसने ऐसे अंडे खाए थे।

वह एक खोजकर्ता (Explorer) था, मैक ऑस्ट्रिच। उसने एक बार में तीन सांप के अंडे खाए थे, लेकिन उसे उससे पहले एक हफ्ते तक कुछ भी खाने को नहीं मिला था। इसलिए ताज्जुब नहीं है कि उसने इन अंडों को पसंद किया।

अब हम मगरमच्छ पर आते हैं। हर तरह के मगरमच्छ बेवकूफ प्राणी होते हैं। साधारणत: वे कुछ भी नहीं सीख सकते। हालांकि उनका सिर बहुत बड़ा होता है, लेकिन उसके अंदर दिमाग आदमी से तो क्या, बंदर, कुत्ते यहां तक कि खरगोश के दिमाग से भी कम होता है। इसलिए उनका सीखना, कुछ ही तरह के थोड़े से कामों तक सीमित रहता है। एक कुत्ते का मस्तिष्क बड़ा होता है, इसलिए वह हज़ारों तरह के काम सीख सकता है। एक मनुष्य का मस्तिष्क और भी बड़ा होता है और वह लाखों तरह के काम कर सकता है।

लेकिन एस्पलेंडिडो के इन सातों मगरमच्छों में से एक का मस्तिष्क सामान्य से थोड़ा बड़ा रहा होगा क्योंकि उसने एक-दो काम करना सीख लिया था। ये उसे पैड्रो रोडरिज़ नाम के आदमी ने सिखलाए थे, जो उन जानवरों की देखरेख करता था। वह जानवरों का बड़ा शौकीन था और उनके साथ बहुत धैर्यवान भी। उसने इस मगरमच्छ को, जिसका नाम उसने रोज़ा रखा था, पुकारने पर पानी से बाहर आना सिखाया था।

मैं बताना ही भूल गया कि यह एक मादा मगरमच्छ थी। सब मगरमच्छ कुछ बातों में झींगा मछली की तरह होते हैं। वे पानी में रहते हैं, बाहर से सख्त होते हैं, और आपको काट भी सकते हैं। लेकिन मगरमच्छ खाने में उतने स्वादिष्ट नहीं होते जितनी कि झींगा मछली।

रोज़ा कुछ और काम करना भी सीख गई थी। वह अपने पीछे के पैरों और दुम पर बैठ सकती थी और लोगों के खाना फेंकने पर अपना मुंह खोल सकती थी। वह अपनी दुम अपने मुंह में डालकर गोल-गोल घूम लेती थी। उसका पति जोआ, बेवकूफ और चिड़चिड़ा था। कम-से-कम वह
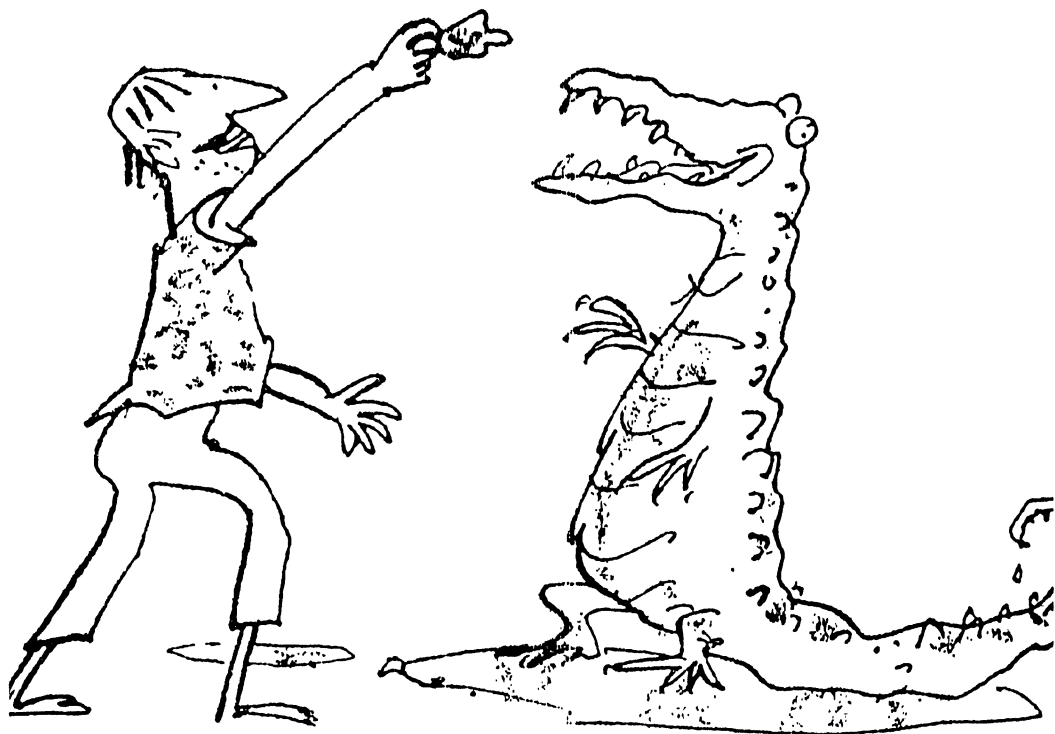
आदमियों के साथ तो बदमिजाज़ था ही। लेकिन रोज़ा उसे ठिकाने रखती थी और जब वह लालच करता और रोज़ा को भोजन में से पूरा हिस्सा नहीं देता, तब वह उसे अपनी दुम से फटकारती थी।

एक दिन एस्पलेंडिडो ने पैड्रो से जानवरों का हालचाल पूछा। पैड्रो ने बताया, "बाकी सब जानवर तो ठीक हैं, सिवाय नर एनाकोंडा के। उसने अपने दो दांत तोड़ लिए हैं, लेकिन मुझे उम्मीद है कि वे फिर से उग आएंगे।"

"क्या बकवास है", एस्पलेंडिडो ने कहा, "वह बड़ा हो चुका है, उसके अब और दांत नहीं उग सकते।" पैड्रो ने सिर्फ इतना कहा, "बिल्कुल ठीक सर।" वह जानता था कि हालांकि उसकी बात ठीक थी, फिर भी जवाब देने का कोई फायदा नहीं था। उसका मालिक एक अहंकारी व्यक्ति था और कोई अगर उसकी गलती बता दे, तो वह एकदम आग-बबूला हो जाता था।

और तभी एस्पलेंडिडो को एक बढ़िया विचार आया। उसने सोचा कि वह क्यों न अपने सांप के सोने के दांत बनवाकर लगवाए? फिर वह संसार में अकेला ऐसा व्यक्ति होगा, जिसके पास सोने के दांत वाला सांप होगा। सोने के चम्मच, घड़ियां, नमक-

मिर्च दानियां जैसी चीज़ें तो बहुत-से लोगों के पास होती हैं, और भारत में कुछ राजाओं और राजकुमारों के पास तो सोने की सबसे अजीबो-गरीब चीज़ें होती हैं। स्वैट के अकुंड की सात पत्नियों के पास सोने की नाक की नथनियां थीं, ला-बेला के जाम के पास सोने की सत्रह टूथपिक, सोने के पांच तोते के पिंजड़े और एक पैर साफ करने का सोने का झांवा था। भोपाल की बेगम की तो सिलाई मशीन ही सोने की थी। और स्पीति के नोनो के पास तो सोने का पीकदान था (हिमाचल में एक स्थान है स्पीति, जहां के राजा को नोनो कहा जाता है)।

इसलिए एस्पलेंडिडो ने कहा, "मैं जैसिंटो के दांत बनवाने के लिए दंत चिकित्सक से मिलूंगा।" उस नर एनाकोन्डा का नाम जैसिंटो था। 'मानोस' में एक अच्छा दंत चिकित्सक था। उसने एस्पलेंडिडो के लिए बहुत-सी बेहतरीन सोने की फिलिंग और कुछ ठोस सोने के दांत बनाए थे। इसलिए जब एस्पलेंडिडो अपना मुंह खोलता था, तो बैंक ऑफ इंग्लैंड का वह तहखाना नज़र आता था, जिसमें वहां का सारा आरक्षित सोना जमा रहता है।

दंत चिकित्सक को एक सांप के लिए दांत बनाने का काम ज़्यादा पसंद नहीं आया। उसका कहना था, "अगर मैं एक आदमी के साथ कुछ करता हूं, तो उसे कितना भी दर्द हो, वो मुझे कभी खाएगा या काटेगा नहीं। लेकिन इस तरह का बड़ा सांप ऐसा कर सकता है।" एस्पलेंडिडो ने कहा, "आओ, और सांप को देखो; देखो कि तुम्हें किस नाप के दांत बनाने हैं। और जब दांत लगाने का समय आएगा, हम पूरी सावधानी रखेंगे कि सांप तुम्हें काट न सके।"

वे लोग काफी समय तक बहस करते रहे और अंत में दंत चिकित्सक ने कहा कि अगर उसे आदमी के दांत

से तीन गुना ज़्यादा पैसा मिलेगा, तो वह यह काम करने को तैयार है। और तब वह मोटर बोट में बैठकर सांप के दांत देखने गया।

फिर घर लौटकर उसने सोने के कुछ दांत बनाए। इसी बीच पैड्रो कोई तरकीब सोच रहा था कि जब चिकित्सक सांप के दांत लगाएगा तो उसे किसी तरह शांत रखा जा सके।

जैसिंटो अठारह फीट लंबा था, इसलिए वह इतना ही लंबा एक लोहे का पाइप लाया। उसके एक सिरे पर पैड्रो ने एक कपड़ा लगा दिया। कपड़े में एक गोल छेद था, जिसे एक डोरी से खींच कर बंद किया जा सकता था। दूसरा सिरा खुला था।

जैसिंटो और उसकी पत्नी एक बाड़े में रहते थे। उन्हें चिड़ियाघर के सांपों की तरह घर के अंदर नहीं रहना पड़ता था क्योंकि ब्राज़ील एक गर्म प्रदेश है। ठंडे प्रदशों में सांप को गर्म जगह पर रखना पड़ता है, क्योंकि सांप, आदमी, कुत्ते, घोड़े या चिड़िया की तरह अपने आप को अंदर से गर्म नहीं रख सकता।

पैड्रो ने बाड़े की दीवार में एक छेद करके पाइप का खुला वाला सिरा वहां लगा दिया। फिर वह एक चूहा लाया और उसने श्रीमती जैसिंटो को पकड़कर बाड़े में वह चूहा छोड़ दिया। चूहा डर के मारे पाइप में भागा, जैसिंटो भी उसके पीछे-पीछे रेंगने लगा। चूहा पाइप के खुले सिरे से कूद कर भाग गया।

जैसिंटो ने उसका पीछा किया और जैसे ही उसने अपना सिर पाइप से बाहर निकाला किसी ने डोरी खींच कर उसकी गर्दन कस कर बांध दी। अब सिर्फ उसका सिर पाइप से बाहर निकला रह गया। फिर उन लोगों ने मिल कर सांप सहित पाइप को उठाया और बाड़े के छेद को बंद कर दिया जिससे उसकी पत्नी बाहर न जा सके।

सांप को उठाने के लिए चार आदमियों को लगना पड़ा। उन्होंने उसे मोटर बोट में रखा और दंत चिकित्सक के पास पहुंचे। सांप बहुत गुस्से में था और लगातार फुफकार रहा था। चिकित्सक भी उसे देख बहुत डर रहा था। उसने एक गिलास रम चढ़ाई और काम में जुट गया। उन्होंने पाइप को एक मेज़ पर इस तरह रखा कि जैसिंटो का सिर, मेज़ के किनारे के ज़रा आगे आ जाए। फिर वे एक दूसरा चूहा उसके मुंह के ठीक सामने लाए और जैसे ही उसने चूहा झपटने के लिए मुंह खोला, पैड्रो ने उसके जबड़ों के बीच एक छड़ी फंसा दी, और जब तक चिकित्सक काम करता रहा, पैड्रो और एक दूसरे आदमी ने मिलकर इस छड़ी को कसकर पकड़े रखा।

बेचारा सांप न तो मुंह बंद कर सकता था, और न ही सिर हिला

सकता था। डॉक्टर अपनी मशीन के साथ काम करने में जुट गया। जैसिंटो की फुफकार सुनने लायक थी – एक स्टीम इंजन की तरह जो स्टेशन पर ज़्यादा देर खड़ा रह गया हो और बॉयलर फट न जाए, इस डर से ड्राइवर को थोड़ी-सी भाप निकालनी पड़ जाए।

डॉक्टर इतना ज़्यादा डरा हुआ था कि उसे एक गिलास रम और पीनी पड़ी। आखिरकार किसी तरह दोनों दांत मज़बूती से लग गए। फिर उन लोगों ने जैसिंटो को वापस ले जाकर बाड़े में छोड़ दिया। अब एस्पलेंडिडो अत्यंत गर्व के साथ अपनी पत्नी और सब मित्रों को सोने के दांत वाला सांप दिखाने ले गया।

न तो जैसिंटो खुश था और न ही उसकी पत्नी, क्योंकि उन बेचारों को पता ही नहीं था कि सोना और सब चीज़ों से ज़्यादा अच्छा होता है। यह भी उन चीज़ों में से एक है, जिनके बारे में सांप आदमी से ज़्यादा समझदार होता है। मैं सोचता हूं कि आदमी सोने की खानें खोदने में बहुत अधिक समय बरबाद करते हैं और मुसीबतें उठाते हैं। और जब उन्हें सोना मिलता है तो वास्तव में यह लोहे या चॉकलेट या रबर जितना उपयोगी भी नहीं होता और न ही फूल, कांच या तस्वीर जैसा सुंदर।

आप तो शायद नहीं जानते होंगे, लेकिन पैड्रो जानता था कि अब आगे क्या होने वाला है। एक दिन जब सर एस्पलेंडिडो जैसिंटो को देखने आए तो उन्होंने देखा कि उसका एक सोने का दांत गायब है, और उसकी जगह एक साधारण दांत लगा हुआ है।

उन्हें बहुत गुस्सा आया और वह अपनी बड़ी-सी छड़ी उठाकर पैड्रो पर झपटे, "तू चोर है, बदमाश है, तूने सोने का दांत निकाल कर उसकी जगह एक मामूली दांत लगा दिया। मैं तुझे नौकरी से निकाल दूंगा, तुझे जेल भिजवा दूंगा।"

बात ये है कि सांप के दांत, मनुष्य के दांत की तरह नहीं होते। मनुष्य के मुंह में कुछ जगहों पर दांत, दो बार आ सकते हैं, और कुछ पर केवल एक बार। जब वे छः या सात साल के होते हैं तो तब तक आए हुए दांत गिर जाते हैं, और उसके बाद नए दांत आते हैं। ये दांत अगर गिर जाएं तो फिर नकली दांत ही लगवाने पड़ते हैं। इसलिए अच्छा तो यही रहता है कि अगर दांत में छेद हो जाएं, तो उन्हें जल्दी ही भरवा लिया जाए, जिससे वो इतने ज़्यादा खराब न होने पाएं कि उन्हें निकालना पड़े।

कुछ थोड़े से या बहुत ही कम, ऐसे असामान्य और खास व्यक्ति होते हैं जिनका स्थाई दांत गिर जाए तो एक तीसरा दांत उग आता है। लेकिन

सांप और मगरमच्छ के तो एक दांत की जगह कितने ही दांत उग सकते हैं। जब एक दांत गिर जाता है, उसकी जगह दूसरा आ जाता है। पैड्रो यह बात जानता था। असल में उसके पास रोज़ा के बहुत सारे पुराने टूटे हुए दांत थे और उनसे पैड्रो ने अपनी पत्नी के लिए माला बना दी थी।

इसलिए वह जानता था कि जैसिंटो के पुराने दांत का टुकड़ा जिस पर सोना लगा दिया गया था, गिर गया है, और बाड़े में ही कहीं पड़ा होगा। वह उस दांत को ढूंढने जाता लेकिन दंत चिकित्सक के पास जाने के बाद से ही जैसिंटो इतना बौखलाया हुआ था कि पैड्रो हाथ पैरों पर रेंगकर दांत ढूंढने जाने में डर रहा था कि कहीं जैसिंटो पीछे से आकर उसके पैर में न काट ले। बेचारा गरीब जूते भी नहीं खरीद सकता था।

खैर, पैड्रो ने सोच लिया था कि अगर सर एस्पलेंडिडो डंडा लेकर उसके पीछे आते हैं तो वह क्या करेगा। वह अहाते में भाग कर मगरमच्छ के तालाब के पास पहुंच गया और रोज़ा को बुलाने लगा। रोज़ा दौड़कर पानी से बाहर आई और अपने पीछे के पैरों पर बैठ गई। पीछे-पीछे अपना बड़ा-सा डंडा लेकर सर एस्पलेंडिडो आया। पैड्रो रोज़ा के इर्द-गिर्द गोल-गोल घूमकर वार बचाता रहा।

जब सर एस्पलेंडिडो रोज़ा और तालाब के बीच भाग रहे थे, रोज़ा को उसके मित्र का पीछा करने के लिए एस्पलेंडिडो पर गुस्सा आने लगा। उसने अपना मुंह खोला, बहुत चौड़ा-सा, और गुस्से से एक बड़े ज़ोर की, अजीब-सी आवाज़ निकाली, जैसी कि मगरमच्छ नाराज़ होने पर निकालते हैं। यह आवाज़ फुफकार, चिंघाड़ और घुरघुराहट के बीच कुछ थी।

कभी चिड़ियाघर की देखरेख करने वाले को, मगरमच्छ को कोंचने के लिए राज़ी करके तुम यह आवाज़ सुन सकते हो – अगर तुम्हारी किस्मत अच्छी हुई तो। लेकिन तुम अपने आप यह काम करने की कोशिश कभी मत करना, क्योंकि हो सकता है रेलिंग पर ज़्यादा आगे झुकने से तुम तालाब में जा गिरो। या फिर यह भी संभव है कि मगरमच्छ को परेशान करते हुए चौकीदार तुम्हें देख ले, तो तुम्हें चिड़ियाघर से बाहर निकाल दिया जाए और फिर कभी भी अंदर नहीं आने दिया जाए। यह बात तो सोचने में ही कितनी भयानक लगती है कि तुम आगे कभी चिड़ियाघर में नहीं जा सकोगे, लेकिन मैं समझता हूं मगरमच्छों का भोजन बनने से तो यह बेहतर ही है।

रोज़ा बीस फुट लंबी थी। चिड़ियाघर के बड़े मगरमच्छों से कहीं

दो गुना अधिक लंबी और दो गुना मोटी भी। उसने जो आवाज़ निकाली वो काफी डरावनी थी और उसका मुंह, सब दांतों के साथ एक बड़े से दरवाज़े जैसा नज़र आ रहा था। सर एस्पलेंडिडो बुरी तरह डर गए कि अपना संतुलन खो बैठे और तालाब में जा गिरे।

उधर तालाब किनारे जोआ अपना मुंह खोले इंतज़ार कर रहा था क्योंकि उसे लग रहा था कि उसके खाने का वक्त हो गया है। और फिर ऐसा हुआ, हालांकि कोई नहीं चाहता था कि ऐसा हो, कि उसने एस्पलेंडिडो को इतनी तेज़ी से खा लिया कि गिरते समय जो सिगार वो पी रहे थे उससे जोआ की जीभ जल गई। अक्सर ऐसा होता है, कोई जल्दी-जल्दी खाए तो अपनी जीभ जला लेता है, मैं सोचता हूं कि यह उसके लिए अच्छा सबक होता है।

लेकिन जोआ ने एक टांग रोज़ा के लिए छोड़ दी क्योंकि अगर वह ऐसा नहीं करता तो रोज़ा अपनी दुम से उसकी पिटाई करती।

तो ऐसा था अंत सर एस्पलेंडिडो का। कोई नहीं जानता सोने की घड़ी जोआ के पेट में कब तक टिकटिक करती रही क्योंकि खा पीकर जोआ तालाब के बीच जाकर सो गया। अगर तुम किसी ऐसे बहादुर को जानते हो जो नरभक्षी मगरमच्छों के तालाब के बीच में जाकर अपना कान मगरमच्छ के पेट से लगाकर घड़ी की टिकटिक सुन सकता हो तो मैं उससे मिलना चाहूंगा।

पैड्रो को पकड़ लिया गया और जज के सामने पेश किया गया। लेकिन जब जज ने उसकी कहानी सुनी, तो कहा, "मैं समझता हूं, सर एस्पलेंडिडो के साथ उचित ही हुआ और यह तुम्हारी गलती नहीं थी। इसलिए मैं तुम्हें जाने देता हूं।"

अगले सप्ताह एक अमेरिकन ने रोज़ा को श्रीमती एस्पलेंडिडो से खरीद लिया और पैड्रो को उसकी देखरेख के लिए रख लिया। अब वे दोनों एक सर्कस में काम करते हैं। रोज़ा ने दो काम और सीख लिए हैं। वह पाइप पी सकती है और अपनी दुम से बाजा बजा सकती है। पैड्रो को सर एस्पलेंडिडो जितना देते थे, उससे पंद्रह गुना ज़्यादा वेतन मिलता है।

अगर वह सरकस कभी तुम्हारे शहर में आए तो देखना मत भूलना।

जे. बी. एस. हाल्डेन: (1892-1964) प्रसिद्ध अनुवांशिकी विज्ञानी। विकास के आधुनिक सिद्धांत को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान। विख्यात विज्ञान लेखक, उनके निबंधों का एक महत्वपूर्ण व रुचिकर संकलन 'ऑन बीइंग द राइट साइज़' शीर्षक से प्रकाशित है।

अनुवाद: पुष्पा अग्रवाल: जयपुर में रहती हैं। शौकिया अनुवाद करती हैं।
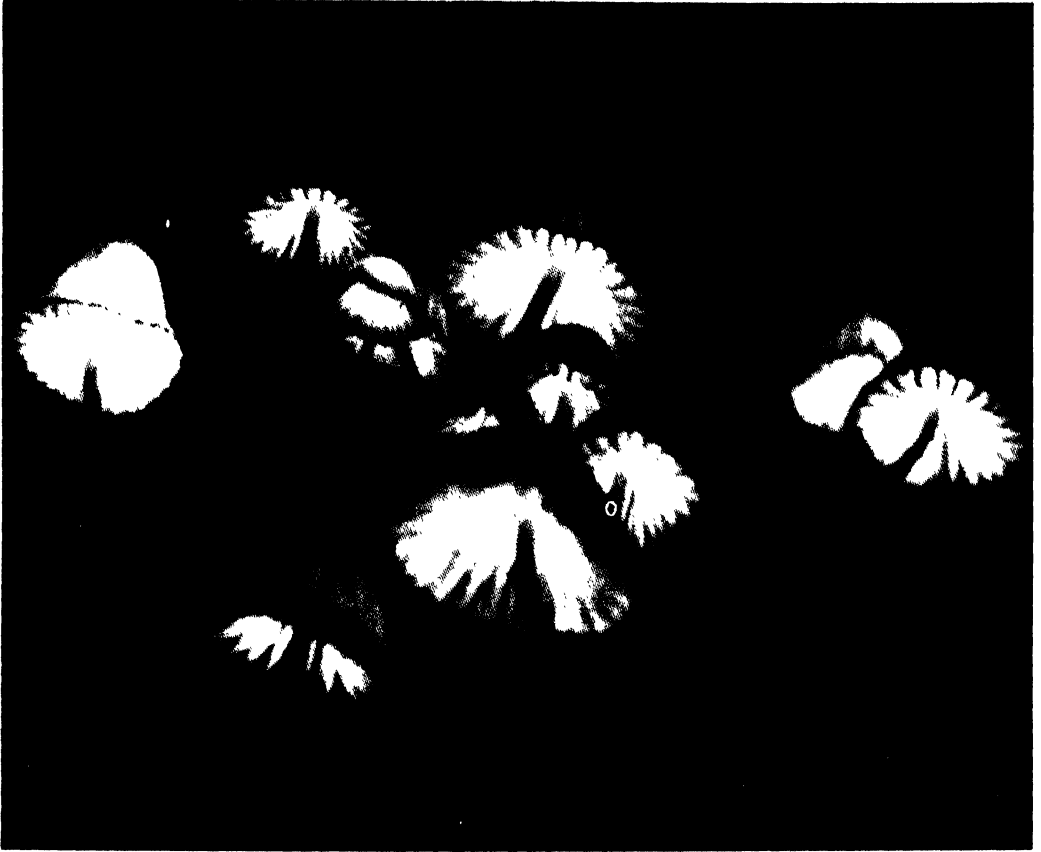
फफूंद यानी कुकुरमुत्ते का यह फोटो एकदम अंधेरे में खींचा गया है, इतना ही नहीं फोटो खींचते वक्त फ्लेश-बल्ब या अन्य किसी तरह की रोशनी का इस्तेमाल भी नहीं हुआ है। सोच में पड़ गए न आप! दरअसल यह एक विशेष प्रकार की फफूंद है जो स्वयं प्रकाश पैदा करती है। प्रकृति में पाई जाने वाली ऐसी घटनाओं को, जब कोई जीव खुद प्रकाश पैदा करे, बायोल्युमिनिसेंस भी कहते हैं। इसका चिर-परिचित उदाहरण जुगनू तो है ही परन्तु इस फफूंद को देखकर समझ में आता है कि प्रकाश उत्पन्न कर पाना केवल जंतुओं तक सीमित नहीं है।

आमतौर पर ए. टी.पी. में संचित ऊर्जा कोशिकीय कार्यों में इस्तेमाल होती है परन्तुं इस फफूंद जैसे कुछ उदाहरणों में सूर्य प्रकाश से प्राप्त रासायनिक ऊर्जा फिर से प्रकाश में बदली जाती है।